वर्ष ४८] * * * * * [अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,६२,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, अगस्त १९७४

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—स्वामी रामसुखदास, पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
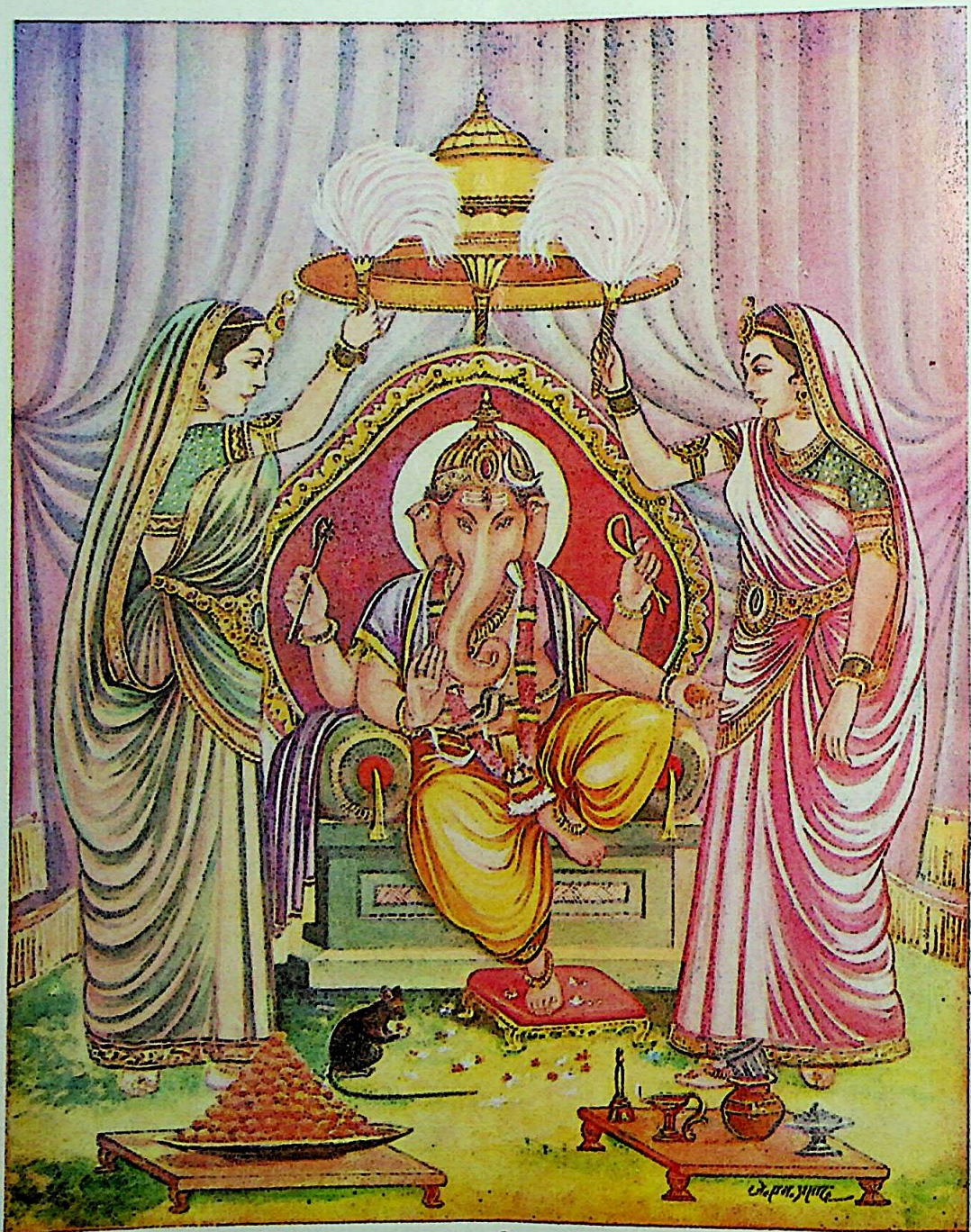
सिद्धि-बुद्धिसहित श्रीगणेश

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

निर्जरासुरनरा अखिलार्थसिद्ध्यै भूयन्तरायहतयेऽनुदिनं नमन्ति ।
तं भक्तकामपरिपूरणकल्पवृक्षं भक्त्या गणेशमखिलार्थदमानतोऽस्मि ॥

वर्ष ४८ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, अगस्त, १९७४ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ५७३

श्रीगणेशसे याचना

गाइये गनपति जगबंदन ।
संकर-सुवन भवानी-नंदन ॥
सिद्धि-सदन, गज-बदन, बिनायक ।
कृपा-सिंधु, सुंदर, सब लायक ॥
मोदक-प्रिय, मुद-मंगल-दाता ।
बिद्या-बारिधि, बुद्धि-बिधाता ॥
माँगत तुलसिदास कर जोर ।
बसहिं राम-सिय मानस मोरे ॥

(तुलसीदास, विनयपत्रिका)

कल्याण

हम आज विज्ञानमें बहुत आगे बढ़ गये हैं। सुदूर राष्ट्रोंकी सीमा गाँवोंकी सीमा-जैसी छोटी हो गयी है। हम आकाशमें इतस्ततः स्वच्छन्द उड़ते हैं, हमारे यन्त्र घंटोंमें पृथ्वीकी परिक्रमा कर लेते हैं; हमारे पास ऐसे आग्नेयास्त्र हैं, जो क्षणोंमें असंख्य प्राणी-समूहका विनाश कर सकते हैं। कारखानों तथा धन-सम्पत्तिकी भी अपार वृद्धि हुई है; भोग-सुख बढ़ गये हैं और जीवन-यात्राका मान भी बढ़ गया है, ऐसा कहा जाता है। यह सब कुछ है, पर शान्ति कहाँ है? अर्थ-पैशाचिकता और अधिकार-लिप्साका सर्वत्र ताण्डव है। प्रपञ्च, पाखण्ड, पातक, प्रमाद, परोत्कर्ष-असहिष्णुता और पीड़ाका अपार विस्तार हो रहा है। करोड़ों मानव दुःख-दारिद्रय-ग्रस्त हो गये हैं। आभ्यन्तरिक अशान्तिका साम्राज्य छा गया है। सर्वत्र हाहाकार मचा है। अन्न-वस्त्र आदि जीवनके लिये आवश्यक सभी वस्तुओंमें बेहद महँगी आ गयी है। मनुष्य-मनुष्यमें जहाँ प्रेम बढ़ना चाहिये था, वहाँ द्वेष-वैरके इतने नये-नये कारण उत्पन्न हो गये हैं, जिनकी कल्पना भी पहले नहीं थी। यह सब क्यों हुआ? इसीलिये कि जड विज्ञानकी चकाचौंधमें चेतन आत्मज्ञान छिप गया और मनुष्यके सामने केवल एक उसीका व्यक्तित्व रह गया है। वह विश्वको, देशको, समाजको भूल गया। इसीके फलस्वरूप चारों ओर शङ्का-संदेह, संघर्ष, खून-खराबी और मानस-शारीरिक हिंसा व्याप्त हो रही है। मानवने अपने जीवनमें इतनी जटिलताएँ, इतनी समस्याएँ बढ़ा ली हैं कि उनका कहीं अन्त नहीं है। सर्वत्र तमोमयी आसुरी प्रवृत्तिका प्रसार हो रहा है और इसके परिणामस्वरूप कामोपभोगकी—भौतिकताकी प्रधानता हो गयी है।

आज मानवका मन भगवच्चिन्तन, लोकहित-चिन्तनको छोड़कर केवल विषय-चिन्तनमें लगा है; इसीसे गीताके कथनानुसार क्रमशः विषयासक्ति, कामना, क्रोध, सम्मोह, एवं स्मृतिभ्रंश होकर उसकी बुद्धिका नाश हो गया है और वह पतित हुआ चला जा रहा है। सारा मानव-समाज परमात्माके सम्बन्धको भुलाकर—'स्व'-स्थताको खोकर सर्वथा प्रकृतिस्थ—'अस्व-स्थ' हो रहा है।

इस दुर्दशासे सभी परिचित हैं। पर इसके सुधारका उपाय क्या है? इसका उत्तर है—मानवको 'स्व'-स्थ—आत्मस्थ बनानेके लिये जड भौतिकवादके स्थानपर विशुद्ध अध्यात्मकी, सर्वत्र आत्मदर्शनयुक्त ज्ञानकी स्थापना करनी होगी। इसके लिये ऐसे सात्त्विक प्रकाशकी आवश्यकता है, जो अपने विशुद्ध अनिवार्य प्रभावसे मानव-समाजसे इन सारी बुराइयोंको निकालकर उसे पूर्णरूपसे 'स्व'-स्थ कर दे। ऐसा सात्त्विक प्रकाश 'भगवान्' हैं।

भगवान् सर्वसमर्थ हैं और साथ ही वे सर्वशक्तिमान् हैं; उनका आश्रय ही मानवके लिये परम बल है। हमसबलोग श्रद्धापूर्वक उनका आश्रय ग्रहणकर उनकी पूजाके लिये अपने कर्मोंको उनके अर्पण कर दें तो उपर्युक्त दुर्दशासे हम सहज ही बच सकते हैं। इतना ही नहीं, मानव-जीवनको प्राप्त करनेका परमोद्देश्य अनायास सिद्ध हो जायगा। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिससे समस्त प्राणियोंका प्रवर्तन हुआ, जो सबमें व्याप्त है, उस परमात्माको अपने कर्मोंके द्वारा पूजकर—स्वकर्मको ही भगवत्पूजा बनाकर मनुष्य सिद्धिको—जीवनकी सफलताको प्राप्त होता है।'

स्वकर्मको पूजा बनानेका सरलतम साधन है—मानव-समाज एक दूसरेका हित-चिन्तन करे, हित-साधन करे; मानवके व्यक्तिगत 'स्व'का विस्तार विश्वके प्राणिमात्रमें हो जाय और सबके कल्याणमें, सबके सर्वविध अभ्युदयमें ही उसे अपने कल्याण तथा अभ्युदयकी अनुभूति हो। सेवा हो, पर अभिमान न हो; प्रेम हो, पर मोह न हो; करुणा हो, पर ममता न हो; नीच अहंकारका सदाके लिये शमन हो जाय।

भौतिक दुर्दशासे बचने एवं अभ्युदय और निःश्रेयस-की प्राप्तिके लिये भगवान् एवं संतोंने यही सरल तथा अमोघ साधन बताया है। हम भगवत्कृपाका आश्रय ग्रहणकर अपने प्रत्येक कर्मको भगवत्पूजाके रूपमें सम्पन्न करें और साथ ही भगवान्से प्रार्थना करें कि वे हमारी उस पूजाको स्वीकार करें—उससे प्रसन्न होवें। 'भाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[गीतोक्त कर्मयोग]

आत्मकल्याणके विषयमें कर्मयोगको ज्ञानयोगसे श्रेष्ठ बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥
(५। २)

'कर्म-संन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परंतु उन दोनोंमें भी कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।'

इतना ही नहीं, कर्मयोग अभ्यास, विवेक-ज्ञान और ध्यानसे भी श्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥
(१२। १२)

'मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्यागरूप कर्म-योग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

कर्मयोग श्रेष्ठ है, इतनी ही बात नहीं, वह सुगम भी है; क्योंकि कर्मयोगके साधनसे साधक अनायास ही सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीताके पाँचवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें बतलाया है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझनेयोग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

कर्मयोगका साधन सुगम तो है ही, इसके सिवा उसके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। भगवान् गीताके पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें कहते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

'परंतु हे अर्जुन! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

इसमें यह भी बतला दिया गया कि पहले कर्मयोग-का साधन किये बिना ज्ञानयोगकी सिद्धि होनी कठिन है; किंतु कर्मयोगीको ज्ञानयोगका साधन करना ही पड़े—ऐसी बात नहीं, इसके लिये वह बाध्य नहीं है; इसलिये कर्मयोग स्वतन्त्र भी है।

एवं कर्मयोगके द्वारा पापोंका नाश होकर अन्तः-करणकी शुद्धि भी हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥
(४। २३)

'जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसे निष्काम भावसे केवल यज्ञ-सम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं।'

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥
(५। ११)

'कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।'

इसके सिवा कर्मयोगके साधकको यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति भी उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर अपने-आप हो जाती है।

भगवान्ने कहा है—

'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
(४।३८ का उत्तरार्ध)

'उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

इसके अतिरिक्त केवल कर्मयोगसे ही अनामय पद और परमशान्तिरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(२।५१)

'समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर निस्संदेह जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परम पदको पा लेते हैं।'

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्स्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
(२।७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममता-रहित, अहंकार-रहित और स्पृहा-रहित हुआ विचरता है, वही परमात्माकी प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(३।१९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥
(५।१२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

इस कर्मयोगके साथ यदि भक्तिका समावेश करके कर्मोंका आचरण भगवदर्पण या भगवदर्थ बुद्धिसे किया जाय, तब तो कहना ही क्या है। उसे तो भगवान्की कृपासे भगवत्प्राप्ति होती ही है। भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
(९।२७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे। इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायगा और उससे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त करेगा।'

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥
(१२।१०)

'यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही पायेगा।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८ । ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(१८ । ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग—इन सभी साधनोंको स्वतन्त्र तथा सभीका अन्तिम फल एक ही बतलाया गया है। किसी साधककी रुचि कर्मयोगमें, किसीकी ज्ञानयोगमें और किसीकी भक्तियोगमें एवं किसीकी ध्यानयोगमें होती है; किंतु इनके फलमें कोई भेद नहीं है। भगवान्ने कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥
(५ । ४-५)

'संन्यास (ज्ञानयोग) और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि दोनोंमेंसे किसी एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको पा लेता है। ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(१३ । २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं, अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

इससे यह निश्चय हो गया कि कर्मयोगीको कर्मयोगका साधन करनेके पश्चात् भक्तियोग या ज्ञानयोगका साधन करना ही पड़े—ऐसी बात नहीं है। यदि कोई करे तो अच्छी बात है, किंतु वह करनेके लिये बाध्य नहीं है; क्योंकि केवल कर्मयोगसे ही पापोंका नाश होकर यथार्थ ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति सुगमतापूर्वक और शीघ्र हो सकती है।

अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको अवश्य अनासक्त और निष्काम भावसे ही कर्म करना चाहिये।

गीताके समान कोई ग्रन्थ नहीं

सारे संसारके साहित्यमें गीताके समान कोई ग्रन्थ नहीं है। गीता हमारे ग्रन्थोंमें एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। दुःखी आत्माको शान्ति पहुँचानेवाला, आध्यात्मिक पूर्णावस्थाकी पहचान करा देनेवाला और संक्षेपमें चराचर जगत्के गूढ़ तत्त्वोंको समझा देनेवाला गीताके समान कोई भी ग्रन्थ सम्पूर्ण विश्वकी किसी भी भाषामें नहीं है।

वर्ण, आश्रम, जाति, देश आदिका कोई भी भेद न रखकर सबके लिये एक-सी सद्गतिका बोध करानेवाला, दूसरे धर्मग्रन्थोंके प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करनेवाला यह ज्ञान, भक्ति और कर्मयुक्त गीता-ग्रन्थ सनातन वैदिक धर्मरूपी विशाल वृक्षका एक अत्यन्त मधुर और अमृतपदकी प्राप्ति करा देनेवाला अमर फल है।

—लोकमान्य तिलक

एक महात्माका प्रसाद

मृत्यु वास्तवमें जन्मसे ही आरम्भ हो जाती है, पर प्रमादवश मानव इस वास्तविकतापर विचार नहीं करता। मृत्यु कोई अनहोनी बात नहीं है; मृत्यु सदैव होती ही रहती है। ममताके कारण किसीकी मृत्युसे असह्य वेदना भी होती है, पर बड़े ही आश्चर्यकी बात तो यह है कि फिर भी हम जीवनमें मृत्यु तथा संयोगमें वियोग-का अनुभव नहीं करते, अर्थात् दुःखी तो होते हैं, दुःख-के प्रभावको नहीं अपनाते। सजग मानवकी दृष्टिमें तो सारी सृष्टि सतत कालरूप अग्निमें जल रही है। तभी तो विचार-शील मानव ज्ञानपूर्वक निर्मम (ममतारहित), निष्काम एवं असङ्ग होकर अविनाशी जीवनसे अभिन्न हो कृतकृत्य हो जाते हैं। यह कार्यक्रम प्रत्येक मानवको पूरा कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाना चाहिये। उसके पश्चात् शरीरके न रहनेका कोई दुःख शेष नहीं रहता। जो शरीरका उपयोग केवल कर्तव्य-बुद्धिसे सेवामें करते हैं, वे शरीरके न रहनेपर भी समानरूपसे चिर-शान्तिमें वास करते हैं। उदारता, स्वाधीनता एवं प्रियता उनका जीवन हो जाता है। प्रत्येक मानवको प्राणोंके रहते हुए ही इस आवश्यक कार्यक्रमको पूरा कर लेना चाहिये, तभी वास्तवमें शोककी निवृत्ति हो सकती है। इसके अतिरिक्त कोई और उपाय है ही नहीं। अधिकतर आज सत्-चर्चा केवल रूढ़िके रूपमें ही होती है, सत्‌को स्वीकार करनेके लिये नहीं। शरीरके रहने-न-रहनेमें अपना कोई अधिकार नहीं। वह किसी विधानसे मिलता है और किसी अन्य विधानसे चला जाता है। अपना अधिकार तो केवल ज्ञानपूर्वक, शरीर रहते हुए, शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेमें ही है, अथवा शरीरका उपयोग परिवार तथा समाजकी सेवामें है। शरीरके विगड़ने तथा न रहनेसे परिवार तथा समाजकी क्षति होती है, पर उससे असङ्ग हो जानेपर अपनी कोई क्षति नहीं होती। इतना ही नहीं, जिन्होंने असंगता प्राप्त की, उनका शरीर स्वतः विश्वरूपी वाटिकाके लिये खादके रूपमें काम आ गया और फिर उनका जीवन समाजके लिये विधान बन गया। यदि इस उद्देश्यकी पूर्ति किये बिना कोई चल बसता है तो यह बड़े ही दुःखकी बात है।

प्राकृतिक विधानके अनुसार उत्पत्ति-विनाशका क्रम सतत रूपसे चल रहा है। किसी भी उत्पत्तिकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है, यह सर्वमान्य सत्य है। सत्यको स्वीकार करना मानवमात्रके लिये अनिवार्य है। सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन शरीर-धर्म है और सत्‌को स्वीकार करना स्व-धर्म है। स्व-धर्मसे ही वास्तविक सत्सङ्ग होता है और उससे ही कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं आत्मीयताकी अभिव्यक्ति होती है। कर्तव्य-परायणतासे जीवन जगत्‌के लिये, असंगतासे अपने लिये एवं आत्मीयतासे प्रभुके लिये उपयोगी होता है। यह सत्सङ्गकी महिमा है। इतना ही नहीं, कर्तव्यपरायणताका अन्त योगमें, असंगताका अन्त बोधमें एवं आत्मीयताका अन्त प्रेममें होता है। इस दृष्टिसे सत्सङ्गसे ही भोग, मोह और आसक्तिकी निवृत्ति तथा योग-बोध-प्रेमकी प्राप्ति होती है, जो मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है। सत्-चर्चा तथा सत्-चिन्तनका सुख भोगते रहना और सत्‌को स्वीकार न करना भारी भूल है। चर्चा और चिन्तन सहयोगी साधन हैं, पर सत्‌को स्वीकार किये बिना वास्तविक जीवनकी प्राप्ति नहीं होती।

* * * *

मृत्यु शरीर-धर्म है, स्वधर्म नहीं। 'स्व'में तो प्यारे प्रभुका नित्य वास है; कारण कि वे अभी हैं, अपने हैं, अपनेमें हैं, अर्थात् अपनेमें प्रेमास्पद मौजूद हैं। उन्हींकी प्रीति होकर रहो। प्रीति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु आत्मीय सम्बन्धसे स्वतः अपनेमें ही प्रकट होती है। प्रीति और प्रीतमका नित्य विहार सदैव अपनेमें ही होता

रहता है। कारण, वे दोनों ही अनन्त और अविनाशी हैं।

प्रेमका आरम्भ होता है, अन्त नहीं। प्रेम-तत्त्व क्षति-पूर्ति-निवृत्तिसे रहित है। प्रेममें सत्ता प्रेमास्पदकी ही है। प्रेमीजन प्रेमसे अभिन्न हो जाते हैं। प्रेम प्रेमीका जीवन और प्रेमास्पदका स्वभाव है। प्रेमकी अभिव्यक्तिमें ही जीवनकी पूर्णता है। अतः जो सदैव, सर्वत्र, सभीके हैं, वे ही अपनेमें अपने हैं, इस वास्तविकतामें अविचल आस्था करो।

* * * *

तुम्हारा गुरु, तुम्हारा प्रभु सदैव तुम्हींमें है। कोई शरीर गुरु नहीं होता। साधना ही गुरुका स्वरूप है। जीवनका जो सत्य है, उसे स्वीकार करनेपर साधकमें स्वतः साधन-तत्त्वकी अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टिसे अपनेमें ही गुरु-तत्त्वकी प्राप्ति होती है, जिसकी प्राप्ति होनेपर शिष्यका अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। मेरा गुरु मुझसे कभी भी अलग है, इसका शिष्यके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। भला, कभी गुरु अलग हो सकता है ? कदापि नहीं। वे हरि ही गुरुरूप होकर साधकको अपनाते हैं। प्रेमास्पद सदैव प्रेमियोंकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। जिन्होंने उन्हें अपना स्वीकार किया, वे सभी प्रेम होकर प्रेमास्पदको पा गये। यह अनन्तका मङ्गलमय विधान है। शिष्य और गुरु, दोनों ही किसी भी कालमें शरीर नहीं हैं, इस वास्तविकताका अनुभव करो। तीनों शरीरोंसे असङ्ग होकर सभीने अपनेमें अपने प्रेमास्पदको पाया है। शरीरके द्वारा प्यारे प्रभुकी विश्ववाटिकाकी सेवा करो। शरीर किसी भी कालमें न तो अपना है और न अपने लिये है—यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। सत्यको स्वीकार करनेमें ही साधकके पुरुषार्थकी परावधि है। जन्म-जन्मान्तरकी शिक्षाओं और प्रयासोंका फल है कि साधक सत्यको स्वीकार करे—यही वास्तविक शिक्षा है और इसीसे साधक साधनासे अभिन्न होकर सदाके लिये साध्यको पाकर कृतकृत्य हो जाता है। सत्यको स्वीकार न करनेके कारण मानवने अपनेमें अनेक विकारोंको, असाधनोंको उत्पन्न कर लिया है। विकारोंका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। स्वतन्त्र अस्तित्व केवल निर्विकारता, शान्ति, समता एवं अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियताका ही है, जो एकमात्र सत्यको स्वीकार करनेमात्रसे ही साधकमें अभिव्यक्त हो जाती है।

सत्सङ्गमें ही जीवन है। जीवनकी माँग साधककी स्वाभाविक माँग है। इस माँगकी पूर्ति अवश्य होती है, यह अनेक साधकोंका अनुभव है। माँगकी पूर्तिमें विकल्प करना भारी भूल है, जिसका साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं। अतएव सत्सङ्गी होकर साधननिष्ठ हो जाना चाहिये।

* * * *

सेवा वही कर सकता है, जिसके हृदयमें परहितकी रति हो और जिसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। सेवकके हृदयमें अधिकार-लोलुपताकी गन्ध भी नहीं चाहिये, अपितु उसे बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयोंको हर्षपूर्वक सहन करनेका स्वभाव बना लेना चाहिये, उसमें सुख-सुविधा-सम्मानकी लालसा नहीं रखनी चाहिये; ऐसा सच्चा सेवक ही सेवा कर सकता है। सेवामें त्याग तथा प्रेम निहित रहता है। त्यागसे जीवन्मुक्ति तथा अनन्य-भक्तिका रस मिलता है, जिससे जीवन सर्वसमर्थ प्रभुके लिये उपयोगी होता है, अर्थात् सेवा जगत्के लिये, त्याग अपने लिये और प्रेम प्रभुके लिये उपयोगी है। इतना ही नहीं, सेवा, त्याग एवं प्रेम ही मानवता है और मानवतामें ही जीवनकी पूर्णता निहित है—यह अनुभवसिद्ध सत्य है। भगवत्कृपासे ही सेवा करनेकी रुचि जाग्रत् होती है। तपसे आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है, यह प्राकृतिक विधान है।

किसी भी व्रतको पूरा करनेके लिये तप, प्रार्थना और प्रायश्चित्त ही अचूक उपाय है। आयी हुई कठिनाइयोंको

हर्षपूर्वक सहन करना तप, व्याकुलतापूर्वक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये हृदयसे मूक भाषामें प्रभुको पुकारना प्रार्थना और भूलको न दुहराना ही प्रायश्चित्त है। सेवा-परायण साधकको आवश्यक वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है, यह प्रभुका मङ्गलमय विधान है। इतना ही नहीं, सेव्य भी सेवकका प्रेमी हो जाता है और है एवं सेवकको सेव्य प्रिय होता ही है। सेवक और सेव्यमें प्रेमका आदान-प्रदान स्वतः होता रहता है। सेवकमें निष्कामताका ऐश्वर्य और सेव्यमें महानताका ऐश्वर्य है। सेवक अचाह हो जाता है और सेव्य सेवकको अपना लेता है—यह अनन्तका सहज स्वभाव है। जिसे प्रभु अपनाते हैं, वही प्रभु-प्रेमको पाता है। इस दृष्टिसे सेवाके समान प्रभुप्रेम-प्राप्तिका और कोई अचूक उपाय नहीं है। यहाँतक कि सेव्य स्वयं सेवककी महिमा गाते-गाते थकते नहीं और सेवकमें उत्तरोत्तर सेव्यकी प्रियता बढ़ती ही रहती है। प्रियता सेव्यके समान ही अविनाशी, अनन्त एवं चिन्मय है, अर्थात् सेवक प्रेम और प्रेमास्पदके नित्य विहारमें प्रवेश पा जाता है, जो मानवके विकासकी चरम सीमा है।

तू मेरे हृदयमें पूर्णरूपसे समा गया है!

[विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोरके 'आछो आमार हृदय आयो भरे' गीतका श्रीसत्यकामजी विद्यालंकारद्वारा किया हुआ भावानुवाद]

तू मेरे हृदयमें पूर्णरूपसे समा गया है, इसलिये अब जो
जीमें आये वह कर।
जब तूने मेरे अंदरके खजानेपर अधिकार किया है, तो
बाहरका भी सब कुछ अपने हाथमें ले ले।
इस तरह मेरी सब तृष्णाओंका अन्त होगा, तभी तू
मेरे प्राणोंको अपनी परितृप्तिसे भरेगा।
इसके बाद कोई चिन्ता नहीं, संसारमें टेढ़े-मेढ़े रास्तोंपर
अङ्गार भी बरसें तो बरसने दे।
विविध रूपोंमें इस तरह जो तू खेल खेलता है, वह मुझे
रुचिकर है।
एककी आँखोंमें तू आँसू भरता है तो दूसरेकी आँखोंमें
हास्य।
कई बार ऐसा लगता है कि मेरा सब कुछ लुट गया, तभी
तुझसे भेंट होती है; और मुझे लगता है, जो लुटा था,
उससे भी अधिक मिल गया।
एक हाथसे तू मुझे सिरसे उतारकर नीचे पटक देता है,
पर दूसरे हाथसे उठाकर छातीसे लगा लेता है।
तू मेरे हृदय-कोषमें पूर्णरूपसे समा गया है, इसलिये अब
जो जीमें आये, वह कर।

श्रीराधाके दिव्य समर्पणमय प्रेमका पुण्यस्मरण

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा श्रीश्रीराधाजन्माष्टमी-महोत्सवपर दिये गये प्रवचनका कुछ अंश]

भाद्रपद शुक्ल अष्टमीका मङ्गल दिवस सभीके लिये परम मङ्गलमय, सर्वथा आदरणीय एवं परम सौभाग्य-सूचक है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति, नित्य-लीलामयी, वृषभानुनन्दिनी, कीर्तिदाकुमारी स्वामिनी श्रीराधाजीकी प्राकट्यलीला आजके दिन मङ्गलमय मध्याह्नके समय ही अपने ननिहाल रावलग्राममें हुई थी। जैसे श्रीकृष्ण नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप, समस्त अवतारों तथा भगवत्स्वरूपोंके मूल, प्राकृत प्रपञ्चसे अतीत, दिव्य गुण-शक्तिमय तथा सौन्दर्य-माधुर्यके अनन्त निधि हैं, वैसे ही श्रीराधाजी भी नित्य सच्चिदानन्दस्वरूपा, लक्ष्मी-सरस्वती आदि समस्त देवियोंकी भी आदि-मूलस्वरूपा, प्राकृत प्रपञ्चसे अतीत, दिव्य गुण-शक्तिमय तथा ऐसे अनुपम अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यकी समुद्र हैं, जो सर्वाकर्षक श्रीकृष्णको भी नित्य आकर्षित किये रहती हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण और श्रीराधामें शक्तिमान् तथा शक्तिके सदृश नित्य अभेद है। एक ही तत्त्व नित्य दो स्वरूपोंमें लीलायमान है।

पवित्र प्रेमकी प्राप्तिके लिये जिस त्यागकी आवश्यकता है, उससे भी कहीं अधिक त्याग श्रीराधामें स्वाभाविक है। वास्तवमें श्रीराधाजी दिव्य प्रेमस्वरूपा ही हैं, पर आदर्शके लिये उनका त्याग परमोज्ज्वल है और श्रीगोपाङ्गनाएँ भी उसीका अनुकरण करती हैं। श्रीकृष्णका सुख ही उनका जीवन है। उन्हें न त्यागका भय है न त्यागकी आकाङ्क्षा; इसी प्रकार न वे भोग-वासना रखती हैं और न वे किसी निज कल्याण-कामनासे भोगत्याग करती हैं। उनका अपना न कोई काम है, न उनके लिये कोई काम्य वस्तु है। वे केवल और केवल अपने श्यामसुन्दरको जानती हैं और अपने सहज सर्व-समर्पणद्वारा अनवरत उनको सुख पहुँचाया करती हैं। यही उनका जीवन-सार है—

सर्वत्यागमय पूर्ण समर्पण, दोष-बुद्धि-विरहित व्यवहार।
भोग-मोक्ष-इच्छा-विरहित प्रियतम-सुख केवल जीवन-सार॥

इस परम मधुरतम प्रेममें मोक्षसुखकी इच्छाको भी 'काम' माना जाता है; अतः उसका भी सहज त्याग हो जाता है, फिर जगत्‌के तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है। इस प्रेम-सुधाकी पवित्र मधुर धारा प्रतिक्षण बढ़ती हुई असीमकी ओर प्रवाहित होती रहती है।

प्रेम पवित्र परम उज्ज्वल, जो काम-कलुषसे रहित, उदार।
शशधर-कला-सदृश प्रतिपल ही बढ़ता रहता सहज अपार॥
नहीं कभी भी, किसी हेतुसे हो सकता उसका प्रतिरोध।
नहीं कभी उसका कर सकता कोई लौकिक भाव विरोध॥
धन-जन-तन, बहुभोगजनित सुख, दुःख प्रबलका तनिक प्रभाव।
नहीं कभी होता प्रेमाप्लावित मनपर, रहता सद्भाव॥
नहीं नरकका भय रहता कुछ, रहता नहीं स्वर्गका काम।
जीवन-मरण प्रेम-रसमें नित डूबे ही रहते अभिराम॥
प्रियतम प्रभु बन स्वयं मधुरतम प्रेम-सुधा-रस-पारावार।
करते परम मनोहर अपनेमें ही आप विचित्र विहार॥
उठतीं ललित लहरियाँ उसमें अनुपम, अमल, अमित अविराम।
देतीं सतत अनन्त कालतक सुख शुचि, नित्य-नवीन, ललाम॥
इह-पर रहता नहीं, नहीं रहता अनित्य दुखमय संसार।
उठता नहीं मोक्ष-सुखका भी मनमें किंचित् काम-विकार॥
रहते प्रियतम सुख-सच्चिन्मय छाये एक सदा सर्वत्र।
सदा अमृतरस-वर्षा होती सुर-मुनि-दुर्लभ परम पवित्र॥

श्रीराधामें इस प्रेम-समर्पणकी पूर्णता है। इसीसे वे परम अनुरागके मधुर सागरमें डूबी हुई नित्य-निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णमें नित्य नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यका अनुभव करती हैं।

इस मधुररसमें अनुराग ही स्थायी भाव है। जो राग नित्य-निरन्तर नये-नये रूपमें परिणत होता हुआ सर्वदा अनुभूत, सदा मिलित प्रेमास्पदको देखते ही उसमें प्रतिक्षण नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यका दर्शन कराता है, ऐसे बढ़े हुए रागको 'अनुराग' कहते हैं।

श्रीराधा और गोपसुन्दरियोंको इसीसे प्रियतम श्रीश्याम-सुन्दरमें प्रतिपल नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यके दर्शन होते हैं। एक दिनकी बात है—अखिल विश्वको मोहित करनेवाले श्रीकृष्ण श्रीराधिकाजीके समीप विराजमान थे। उनके विलक्षण सौन्दर्य-माधुर्यको वे सदा ही देखती आयी हैं, पर वह उन्हें नित्य ही पूर्वापेक्षा बहुत अधिक सुन्दर-मधुर प्रतीत होता है। आज उन्हें देखते ही श्रीराधाजी वृन्दासे बोलीं—'ये कौन हैं?' वृन्दाने कहा—'श्रीकृष्ण हैं।' यह सुनते ही श्रीराधारानी आश्चर्यचकित होकर कहने लगीं—'प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर तो न जाने कितनी बार मेरे नेत्रोंको सुख दे चुके हैं; परंतु आज मैं उनमें जैसा अपूर्व अतिशय माधुर्य देख रही हूँ, वैसा तो पहले कभी नहीं देखा था। अहा! इस समय तो इन प्रेममयके एक-एक अङ्गके एक-एक रोमसे शोभाश्रीकी ऐसी सुधाधारा बह रही है कि उसकी एक बूँदके आस्वादन करनेकी भी शक्ति मेरे नेत्रोंमें नहीं है।'—

प्रतीकेऽप्येकस्य स्फुरति मुहुरङ्गस्य सखि या
श्रियस्तस्याः पातुं लवमपि समर्था न दृगियम्॥

सखी री, यह अनुभव की बात।
प्रतिपल दीखत नित नव सुन्दर, नित नव मधुर लखात॥
× × ×
कछुवै होत न बासी कबहूँ, नित नूतन रस बरसत।
देखत-देखत जनम सिरान्यौ, तऊ नैन नित तरसत॥

श्रीराधा-प्रेम-समुद्रमें नित्य नयी तरंगें उठती रहती हैं। यहाँ उन तरंगोंमेंसे दो-एककी झाँकी कीजिये—

एक बार बातचीतके प्रसङ्गमें श्रीराधाके सामने ललिताजीके मुखसे 'कृष्ण' नामका उच्चारण हो गया। बस, उसे सुनते ही श्रीराधाजी अत्यन्त विवश होकर कहने लगीं—

'सखि! यह कैसा मधुर नाम है, इसने तो मेरे कानोंमें प्रवेश करते ही मेरे सारे धैर्यका हरण कर लिया। बता, यह किसका नाम है? यह कृष्ण कौन है?' ललिताने श्रीराधाकी यह बात सुनकर कहा—'अरी रागान्धे राधे! तुम यह कैसी अज्ञताकी-सी बात कह रही हो? तुम तो नित्य ही उन श्रीकृष्णके वक्षः-स्थलपर क्रीडा करती हो!' श्रीराधाजीने कहा—'सखि! परिहास न करो।' तब ललिताजी बोलीं—'पगली! अभी-अभी तो मैंने तुमको उनके हाथोंमें समर्पण किया था।' तदनन्तर श्रीराधारानी बहुत देरतक सोचनेके बाद सिर हिलाती हुई बोलीं—'हाँ सखि! सत्य है। इन श्रीकृष्णको बस, अभी आज ही देखा है, सो भी जन्मभरमें एक बार केवल बिजली कौंधनेकी भाँति—

'सत्यं सत्यमसौ दृगङ्गनमगादद्यैव विद्युन्निभः।'

एक दिन निकुञ्जमें श्रीराधारानीकी प्रिय श्रीश्यामसुन्दरके साथ प्रेम-चर्चा हो रही थी—तब उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं, जिन्हें सुनते-सुनते श्रीश्यामसुन्दर गद्गद हो गये। श्रीराधाजीने जो कुछ कहा, उससे पवित्र प्रेम-राज्यमें वे किस भूमिकापर स्थित हैं और प्रेम तथा प्रेम-लीलाका क्या स्वरूप होता है—विचार करनेपर इसका कुछ अनुमान लग सकता है। वे बोलीं—

मेरे तुम, मैं नित्य तुम्हारी, तुम मैं, मैं तुम, सङ्ग असङ्ग।
पता नहीं, कबसे मैं तुम बन, तुम मैं बने कर रहे रङ्ग॥
होता जब वियोग, तब उठती तीव्र मिलन-आकाङ्क्षा जाग।
पल-अमिलन होता असह्य तब, लगती हृदय दहकने आग॥
चलती मैं रस-सरि उन्मादिनि विह्वल, विकल तुम्हारी ओर।
चलते उमड़ मिलाने निजमें तुम भी रस-समुद्र तज छोर॥
लीला-रस-आस्वादनहित तुम-मैं बनकर वियोग-संयोग।
धर अनेक रस-रूप रमण-रमणी करते नव-नव सम्भोग॥
किंतु मैं न रमणी, न रमण तुम; एक परम चिन्मय रस-तत्त्व।
आश्रय-विषयालम्बन बन नित लीलारत रुचि शुचितम तत्त्व॥

'प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर! तुम मेरे हो, मैं नित्य तुम्हारी हूँ। तुम मैं हो, मैं तुम हूँ। हम दोनों साथ रहते हुए भी असङ्ग हैं। पता नहीं, कबसे मैं तुम

और तुम मैं बने हुए खेल कर रहे हैं। जब वियोग होता है, तब अत्यन्त तीव्र मिलनाकाङ्क्षाका उदय हो जाता है, फिर एक-एक पलका अमिलन असह्य हो उठता है और हृदयमें ज्वाला धधक उठती है। उस समय मैं रस-सरिता उन्मादिनी और विह्वल-विकल होकर तुम्हारी ओर चल पड़ती हूँ; उधर तुम रस-समुद्र भी कूल-किनारा त्यागकर मुझे अपनेमें मिला लेनेके लिये उमड़ चलते हो। वस्तुतः हम दोनोंमें कभी अलगाव या वियोग-विछोह होता ही नहीं, पर लीलारस-आस्वादनके लिये तुम और मैं स्वयं ही वियोग और संयोग बनकर—रमण-रमणीरूप अनेक रस-विग्रह धारणकर नये-नये सम्भोगका सेवन करते हैं। वस्तुतः न मैं रमणी हूँ और न तुम रमण ही हो; हम दोनों एक ही परम चिन्मय रसतत्त्व हैं और हमीं दोनों सुन्दर पवित्रतम तत्त्व ही परस्पर आश्रयालम्बन और विषयालम्बन बनकर नित्यलीला-विलास करते रहते हैं।'

एक दिन व्रजेन्द्रनन्दन अखिलरसामृतमूर्ति श्रीश्याम-सुन्दरको देखकर श्रीराधाजी चमत्कृत हो जाती हैं और विशाखासे कहती हैं—

सौन्दर्यामृतसिन्धुभङ्गललनाचित्ताद्रिसम्प्लावकः
कर्णानन्दिसनर्मरम्यवचनः कोटीन्दुशीताङ्गकः।
सौरभ्यामृतसम्प्लवावृतजगत्पीयूषरम्याधरः
श्रीगोपेन्द्रसुतः स कर्षति बलात् पञ्चेन्द्रियाण्यालि मे॥
(गोविन्दलीलामृत)

'सौन्दर्य-सुधा-समुद्रकी तरंगोंसे जो ललनाओंके (प्रेम-भक्ति-साधकोंके) चित्तरूप पर्वतको पूर्णरूपसे प्लावित कर देते हैं; जिनके परिहासपूर्ण मनोहर सुवचन कर्णकुहरोंको आनन्दसे पूर्ण कर देते हैं, जिनका अङ्ग कोटि-शरदिन्दुकी ज्योत्स्नाके सदृश शीतल है; जिनका अधरामृत साक्षात् दिव्य पीयूष है और जिनके अधरोंके सौरभरूप सुधा-समुद्रसे विश्व-ब्रह्माण्ड सम्प्लावित है, सखि! वे गोपेन्द्रतनय—व्रजेन्द्रनन्दन मेरी समस्त इन्द्रियोंका बरबस आकर्षण कर रहे हैं।'

श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधा-मुखारविन्दके निरीक्षणा-नन्दमें मुग्ध थे; उन्हें देखकर विशाखाने श्रीराधासे कहा—

कोटि-कोटि-कंदर्प-दर्पहर हैं माधव सौन्दर्यनिधान।
तुम्हें देखते ही बढ़ आयी इनमें सुन्दरता सुमहान॥
माधव हैं सौन्दर्य अतुल, माधुर्य-रस-सुधा-पारावार।
शशि-ज्योत्स्नासे सागरकी ज्यों उठती आनन्दोर्मि अपार॥
देखो! कैसे विह्वल हो, ये भूल स्वरूपानन्द पवित्र।
तव मुख-कमल-निरीक्षण-सुखमें खड़े विभोर लिखे-से चित्र॥

एक बार किसीने श्रीराधाके पास आकर श्रीकृष्णमें स्वरूप-सौन्दर्यका और सद्गुणोंका अभाव बतलाया और कहा कि 'वे तुमसे प्रेम नहीं करते।' विशुद्ध प्रेम रूप-गुणकी तथा बदलेमें सुख प्राप्त करनेकी अपेक्षा नहीं करता—'**गुणरहितं कामनारहितम्**' और वह बिना किसी हेतुके ही प्रतिक्षण सहज ही बढ़ता रहता है—'**प्रतिक्षणवर्धमानम्**'। श्रीराधाजी सर्वश्रेष्ठ विशुद्ध प्रेमकी सम्पूर्ण प्रतिमा हैं, अतः वे बोलीं—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा
गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा
श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणा-वरुणालयरूपसे कृपा करते हों, वे श्रीश्यामसुन्दर ही मेरी एकमात्र गति हैं।'

इस प्रकार श्रीराधा-माधवका मधुर लीला-प्रेम-विलास परम दिव्य एवं अनन्त है। उसका जितना भी स्मरण-चिन्तन किया जाय, उतना ही मङ्गल है। श्रीगोपी तथा श्रीराधाके समर्पणमय प्रेमसे जगत्के लोगोंको जो महान् त्यागकी शिक्षा मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह नियम है कि छोटे या बड़े, किसी भी क्षेत्रमें, व्यष्टि या समष्टिमें जितना अधिक

दूसरेके लिये 'त्याग' होगा, उतना ही विशुद्ध प्रेम बढ़ेगा और जितना-जितना प्रेम बढ़ेगा, उतना-ही-उतना 'त्याग' अधिक होगा। यों त्याग और प्रेममें परस्पर होड़ लग जायगी और इससे मनुष्यका त्यागमय प्रेम-जीवन सर्वत्र सहज ही शुद्ध आनन्द तथा सुख-शान्तिका विस्तार कर देगा; क्योंकि प्रेम देना जानता है, लेना नहीं। आज यदि जगत्के सभी मानव अपने सुखको भुलाकर, अपने सीमित स्वार्थको छोड़कर, अपने हितकी चिन्ता न करके दूसरेके स्वार्थको अपना स्वार्थ समझने लगें तो सभी सबको सुख पहुँचाने तथा सभी सबका हित करनेवाले हो जायँगे। इससे सभीका सहज सुख-हित-साधन होगा।

यह पवित्र भगवत्प्रेम ही जीवनका परम लक्ष्य है—जो यह मानकर अपना जीवन बनाता है, वही वास्तवमें 'मनुष्य' कहलानेयोग्य है। भोगोंमें आसक्त, अशान्त तथा पापजीवन मनुष्यसे तो कर्मके अनधिकारी पशु आदि ही श्रेष्ठ हैं। अतएव इस लक्ष्यको सामने रखकर, इसके लिये दृढ़ संकल्प करके मानवको सतत प्रयत्नशील होना चाहिये। नीचे लिखे कुछ साधन इसमें सहायक और लाभप्रद हो सकते हैं—

(१) भगवत्प्रेमको ही जीवनका एकमात्र परम उद्देश्य समझना और इसे हर हालतमें निरन्तर लक्ष्यमें रखकर ही सब काम करना।

(२) जहाँतक बने, सहज ही स्वरूपतः भोग-त्याग तथा भोगासक्तिका त्याग करना। जगत्के किसी भी प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिमें राग न रखना।

(३) अभिमान, मद, गर्व आदिको तनिक-सा भी आश्रय न देकर सदा अपनेको अकिंचन, भगवान्के सामने दीनातिदीन मानना।

(४) कहीं भी ममता न रखकर सारी ममता एकमात्र भगवान् प्रियतम श्रीकृष्णके चरणोंमें केन्द्रित कर देना।

(५) जगत्के सारे कार्य उन भगवान्की चरण-सेवाके भावसे ही करना।

(६) किसी भी प्राणीमें द्वेष-द्रोह न रखकर, सबमें श्रीराधा-माधवकी अभिव्यक्ति मानकर सबके साथ विनयका, यथासाध्य उनके सुख-हित-सम्पादनका बर्ताव करना। सबका सम्मान करना, पर स्वयं कभी मान न चाहना, न कभी स्वीकार करना।

(७) जगत्का स्मरण छोड़कर नित्य-निरन्तर भगवान्के स्वरूप, नाम, लीला आदिका प्रेमके साथ स्मरण करना।

(८) प्रतिदिन नियत संख्यामें, जितना जो सुविधापूर्वक कर सकें—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

या पहले 'हरे कृष्ण'से शुरू करके इस मन्त्रका जप करना। दिनभर इस सोलह नामके मन्त्रको रटते रहना। सुविधा हो तो कुछ समयतक इसीका कीर्तन करना। जो लोग केवल 'श्रीराधामाधव' नामका ही जप करना चाहते हैं, वे वही कर सकते हैं।

(९) स्व-सुख-वाञ्छाका, निज-इन्द्रिय-तृप्तिका, अपने मनके अनुकूल भोग-मोक्षकी इच्छाका सर्वथा परित्याग करके भगवान् श्रीकृष्णको ही प्रियतम-रूपसे भजना तथा प्रत्येक कार्य केवल उन्हींके सुखार्थ करना।

(१०) आगे बढ़े हुए प्रेमी साधक 'मञ्जरी'-भावसे उपासना कर सकते हैं। मञ्जरीभावका अर्थ है—अपनेको श्रीराधाजीकी किंकरी मानकर आठों पहर श्रीराधामाधवके सुख-सेवा-सम्पादनमें अपनेको सर्वथा खो देना—केवल सेवामय बना देना।

(११) अपने साधन-भजन तथा भगवत्कृपासे होनेवाली अनुभूतियोंको यथासाध्य गुप्त रखना।

(१२) सम्मान-पूजा-प्रतिष्ठाको विषके समान

समझकर उनसे सदा बचना। बुरा कार्य न करना, पर अपमानको अमृतके समान मानकर उसका आदर करना।

उपर्युक्त बारह साधनोंको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अपनानेका प्रयत्न करनेपर श्रीराधामाधवकी सहज कृपासे हमारा जीवन उनके प्रेम-मार्गपर चलने लायक बन सकेगा, ऐसी आशा है।

आज श्रीराधा-जन्माष्टमी-महोत्सवके मङ्गलमय अवसरपर हम सभी श्रीराधामाधवसे इस प्रकार प्रार्थना करें—

राधा-माधव-पद-कमल बंदौं बारंबार।
मिल्यौ अहैतुक कृपा तैं यह अवसर सुभ-सार॥
दीन-हीन अति, मलिन-मति, विषयनि कौ नित दास।
करौं बिनय केहि मुख, अधम मैं, भर मन उल्लास॥
दीनबंधु तुम सहज दोउ, कारन-रहित कृपाल।
आरतिहर अपुनौ बिरुद लखि मोय करौ निहाल॥
हरौ सकल बाधा कठिन, करौ आपुने जोग।
पद-रज-सेवा कौ मिलै मोय सुखद संजोग॥
प्रेम-भिखारी पर्‌यौ मैं आय तिहारे द्वार।
करौ दान निज-प्रेम सुचि, बरद जुगल-सरकार॥
श्रीराधा-माधव-जुगल हरन सकल दुख भार।
सब मिलि बोलौ प्रेम तैं तिनकी जै-जै-कार॥

श्रीश्रीवृषभानुनन्दिनी कीर्तिकुमारीकी जय! जय!! जय!!!

श्रीराधा-प्राकट्यपर आनन्दोत्सव

महारस पूरन प्रगट्यौ आनि।
अति फूलीं घर-घर ब्रजनारीं (श्री) राधा प्रगटी जानि॥
धाईं मंगल-साज सबै लै, महामहोच्छव मानि।
आईं घर वृषभानु गोप के, श्रीफल सोहत पानि॥
कीरति वदन-सुधानिधि देख्यौ, सुंदर रूप बखानि।
नाचत-गावत दै कर-तारी, होत न हरष अघानि॥
देत असीस सीस चरननि धरि, सदा रहौ सुखदानि।
रस की निधि ब्रज 'रसिकराय' सौं करौ सकल दुख हानि॥

* * *

चलौ वृषभान गोप कैं द्वार।
जनम लियौ मोहन हित स्यामा आनँद-निधि सुकुमार॥
गावत जुवति मुदित मिलि मंगल, उच्च मधुर धुनि धार।
विविध कुसुम कोमल किसलय जुत सोभित बंदनवार॥
विदित वेद विधि विहित विप्रवर कर स्वस्तिन उच्चार।
मृदुल मृदंग मुरज भेरी ढप दिवि दुंदुभि रवकार॥
मागध-सूत-वंदि-चारन जस गावत मोद अपार।
हाटक-हीर-चीर-पाटंबर देत सँभार-सँभार॥
धेनु सकल सिंगारि वच्छ जुत लै चले ग्वाल पुकार।
(जै श्री) 'हित हरिवंस' दूध-दधि छिरकत, मौंझ हरिद्रा गार॥

भागवत-धर्म

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

स्कन्धेऽध्याये प्रकरणे श्लोके वाक्ये पदेऽक्षरे।
सप्तधा विभजन्नर्थं श्रीमद्भागवतं वदेत्॥

'स्कन्ध, अध्याय, प्रकरण, श्लोक, वाक्य, पद और अक्षर—इन सातोंको ध्यानमें रखते हुए—अर्थके साथ इन सातोंकी संगति बैठाते हुए श्रीमद्भागवतका प्रवचन करे।'

बोपदेवने श्रीमद्भागवतपर 'हरिलीलामृत', 'मुक्ताफलम्' आदि जो ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें उन्होंने बतलाया है कि श्रीमद्भागवतमें स्कन्ध, अध्याय, प्रकरण, श्लोक, वाक्य, पद तथा अक्षरतक इतने व्यवस्थित हैं कि उनमेंसे एक भी अक्षरको इधर-उधर करना, घटाना-बढ़ाना सम्भव नहीं। एक अक्षर भी घटाने-बढ़ानेपर पकड़में आ जायगा, श्रीमद्भागवत इतनी परिपुष्ट शैलीमें निर्मित है।

श्रीमद्भागवतमें पहले ही प्रतिज्ञा की गयी है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥
(१।१।३)

'वेदरूपी कल्पवृक्षका यह पककर अपने आप गिरा हुआ फल है, जो श्रीशुकदेवके मुखका स्पर्श पाकर अमृत-से भर गया है। पृथ्वीके रसज्ञ भावुक लोगो! आप इस श्रीमद्भागवतरूपी रसका जीवनभर बार-बार पान किया करें।'

पूरा-का-पूरा फल ही रसमय है; इसमें न गुठली है, न छिल्का। ऐसी स्थितिमें इसकी एक बूँद भी व्यर्थ जाय—व्यर्थ माननेयोग्य हो, ऐसी बात नहीं। लेकिन यहाँ न हम श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तकी चर्चा कर रहे हैं और न इस ग्रन्थमें आयी हुई स्तुतियों या उपदेशोंका ही विवेचन कर रहे हैं। इसमें जो स्थान-स्थानपर मानव-जीवनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली घटनाएँ हैं, हम मात्र उन्हींका विहङ्गम-दर्शन कर रहे हैं।

* * *

हम शान्त हों या विक्षिप्त, धनी हों या निर्धन, सुन्दर हों या कुरूप, रोगी हों या स्वस्थ, हमारे स्वजन साथ हों या बिछुड़ गये हों, हमारा जीवन हो या मरण—मानवको व्यवहारमें सदैव एकरस रहनेकी विद्या प्राप्त होनी चाहिये।

चार्वाक् तथा बौद्ध कहते हैं—'जीवन-मरण संसार-का धर्म ही है, यह होता ही रहता है। इसकी परवाह न कर मनुष्यको निर्द्वन्द्व रहना चाहिये।'

सांख्यवादी कहते हैं—'यह सारा संसार प्रकृतिका खेल है। इसमें द्रष्टा असङ्ग है। उस द्रष्टाका प्रकृति-विकृतिसे विवेक कर लेना चाहिये।'

योगी कहते हैं—'घंटे, दो घंटे समाधिमें बैठ जायँ तो उसका ऐसा नशा छा जाता है कि व्यवहार कुछ भी होता रहे, वह उसको तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाता।'

इस प्रकार सभी दर्शन व्यवहारकी संगति लगाते हैं। जो व्यवहारकी संगति न लगाये, वह दर्शन ही नहीं। योगकी समाधि, सांख्यका विवेक, जैनोंका स्वरूपावस्थान, बौद्धोंका शून्यवाद, विज्ञानवाद, या वेदान्तका निर्लेपवाद—सभीमें व्यवहारकी संगति लगी हुई है।

भक्ति-सिद्धान्तमें ईश्वरपर विश्वास आस्था और शरणा-गति है। वह रण-वनमें, एकान्त या भीड़में सर्वत्र शरणा-गत जीवकी रक्षा करती है। भागवत-सिद्धान्तकी यही विशेषता है कि इसमें कोई ऐसा स्थान नहीं, कोई ऐसा समय नहीं, जब और जहाँ ईश्वर हमारी रक्षा न करता हो।

* * *

जैसे पिताकी सम्पत्ति अपने सभी पुत्रोंके लिये हुआ करती है, वैसे ही सृष्टिमें उत्पन्न प्राणिमात्रके कल्याणके

लिये भागवत-धर्म है । यह केवल ब्राह्मण या संन्यासीके लिये ही नहीं है । भगवान्‌की यह सम्पत्ति धर्म ही है और उन्होंने उसे अपनी सम्पूर्ण प्रजाको बाँट दिया है । विभिन्न वर्णों एवं श्रेणियोंके मानवोंका ही नहीं, पशु-पक्षियोंतकका भी कल्याणकारी धर्म ही है । गजेन्द्र पशु ही तो था । जो पशुका भी कल्याण करता है, उस धर्मके सर्वकल्याणकारी होनेमें संदेह ही क्या ।

संजय शूद्र होनेपर भी परमभागवत थे । भगवान् व्यासने उन्हें अपना शिष्य बनाकर वह दिव्यदृष्टि दी कि जिससे वे धृतराष्ट्रके समीप बैठे-ही-बैठे महाभारतका सारा युद्ध देखते तथा भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा गायी गयी गीताका संगीत सुनते रहे । जिस विराट् रूपका दर्शन अर्जुनको हुआ, उसे संजयने अपने ठौरपर बैठे-बैठे ही देख लिया ।

विदुर शूद्र हैं; किंतु ऋषि मैत्रेय उनका आदर करते हैं । विदुरने धृतराष्ट्रको धर्मका उपदेश किया । भगवान् श्रीकृष्ण विदुरके घर जाकर भोजन करते हैं । यह भागवत-धर्मकी महिमा है ।

भागवत-धर्मके पालनमें न जाति-भेद है और न लिङ्ग-भेद । स्त्री-पुरुष, दोनों समान भक्ति कर सकते हैं । सुर-असुर—सभी भक्तिके अधिकारी हैं । वृत्र, प्रह्लाद, बलि, बाण—ये सब असुर थे और भक्त भी । इसका अर्थ है—स्वभाव-भेद भी भागवत-धर्मके पालनमें बाधक नहीं होता ।

'सकृद् यन्नामग्रहणात्
पुल्कसोऽपि विमुच्यते संसारात् ।'

'एक कसाई भी भागवत-धर्मका पालन करे—एक बार भगवान्‌का नाम ले तो वह भी संसारसे मुक्त हो जाता है ।'

'श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते ।'
(भागवत ३ । ३३ । ६)

'कुत्तेका मांस खानेवाला चाण्डाल भी तत्काल यज्ञफलका भागी बन जाता है ।'

तात्पर्य यह है कि भागवत-धर्ममें कर्म-भेदसे अधिकार-भेद नहीं, स्वभाव-भेदसे अधिकार-भेद नहीं, जाति-भेदसे अधिकार-भेद नहीं एवं लिङ्ग-भेदसे अधिकार-भेद नहीं । सभीका इस भागवत-धर्ममें अधिकार है और यह सबके लिये परम कल्याणकारी है ।

* * *

श्रीमद्भागवत (१ । १ । १) की प्रवृत्ति—'सत्यं परं धीमहि' से होती है । 'हम परम सत्यका चिन्तन करते हैं',—यह उक्ति वक्ता-श्रोता एवं गुरु-शिष्य—सभीके लिये है ।

कोई स्थिति-विशेष प्राप्त करना श्रीमद्भागवतका लक्ष्य नहीं; कोई सविचार रहे या निर्विचार हो जाय—समाधिशास्त्रका परम तात्पर्य भागवतका परम तात्पर्य नहीं । श्रीमद्भागवत एक दृष्टि देता है और ऐसी दृष्टि, जिससे आप समाधि एवं व्यवहार—दोनोंमें सुखी रहें । ऐसा ज्ञान देता है, जो लोक-व्यवहार और परमार्थ—दोनोंमें समानरूपसे उपयोगी हो ।

ग्रन्थके प्रारम्भमें—'विष्णुं परं धीमहि, शम्भुं परं धीमहि, शक्तिं परं धीमहि या ईशं परं धीमहि'—नहीं कहा गया । 'हम विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य, गणपति आदि भिन्न-भिन्न रूपोंमें भिन्न-भिन्न देवताओंकी वन्दना करते हैं'—इस प्रकार श्रीमद्भागवतका प्रारम्भ नहीं हुआ । श्रीमद्भागवतका प्रारम्भ हुआ—'सत्यं परं धीमहि' से अर्थात् 'जो परम सत्य है, उसका हम चिन्तन-ध्यान करते हैं ।'

शास्त्रका काम है, दृष्टि देना । वे ऐसी दृष्टि देते हैं, जो हर अवस्थामें हमारे लिये उपयोगी हो । भक्ति-शास्त्र दृष्टि देते हैं—'सब भगवान्‌का स्वरूप है ।' तत्त्व-दृष्टिसे शास्त्र यह दृष्टि देते हैं—'सब परमात्मा है ।'

इसमें भेद-बुद्धिके कारण जो हम राग-द्वेष करते हैं, वह भेद-भ्रान्ति ही गलत है। यदि भेद-भ्रान्ति निवृत्त हो जाय तो मनुष्य कैसी भी स्थितिमें रहे, परमानन्दमय ही रहेगा।' यहींसे श्रीमद्भागवतका प्रारम्भ होता है और अन्तमें भी यही बात कही गयी—

'तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि।'
(१२। १३। १९)

'जो शुद्ध है, निर्मल है, विशोक है, अमृत है, उस परम सत्यका हम ध्यान करते हैं।'

इसका अभिप्राय यह है कि श्रीमद्भागवत किसी गुट-विशेष, तन्त्र-विशेष या सम्प्रदाय-विशेषद्वारा मान्य सत्यका प्रतिपादन नहीं करता; प्रत्युत सार्वकालिक सत्य, सार्वदेशिक सत्यका प्रतिपादन करनेके लिये ही उसका आविर्भाव हुआ है।

*　　　*　　　*

श्रीमद्भागवतसे कौन-कौन लाभ उठाते हैं, इसका एक बड़ा मार्मिक प्रसङ्ग ग्रन्थमें ही है—

उन दिनों वर्षा नहीं हो रही थी। अन्नकी फसल सूख गयी। सारी प्रजा क्षुधा-प्रपीड़ित थी। लेकिन महाराज पृथुने जब पृथ्वीका दोहन प्रारम्भ किया, तब पशुओं-पक्षियों, सर्प, बिच्छूतक सृष्टिमें जितने भी मानवादि प्राणी हैं तथा देवता-दानव—सबने अपना-अपना भोजन प्राप्त किया। इसीका नाम है—'भागवत-धर्म'। यह केवल मनुष्यतक ही सीमित नहीं है; सृष्टिके समग्र प्राणियों, कीड़े-मकोड़ोंतकके लिये यह पोषक है।

साथ ही सम्पूर्ण सृष्टिकी शुद्धि भी भागवत-धर्ममें है। पृथ्वीमें जो दोष है, उसकी निवृत्ति भगवान् करते हैं; जलमें जो दोष है, उसकी निवृत्ति भगवान् करते हैं; अग्निमें जो दोष है, उसकी निवृत्ति भगवान् करते हैं एवं वायुमें जो दोष है, उसकी निवृत्ति भगवान् करते हैं एवं आकाशमें जो दोष है, उसकी निवृत्ति भगवान् करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें न केवल मनुष्योंके लिये, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियोंके पोषणार्थ तथा सम्पूर्ण तत्त्वोंके शोधनार्थ जो विधि-विधान अपेक्षित हैं, सबका वर्णन है। यदि ऐसा न होता तो भागवत-धर्म भागवत-धर्म ही न कहलाता। 'भागवत-धर्म' उसीको कहते हैं, जो भगवान्‌की सम्पूर्ण प्रजाके लिये हो। जो भी भगवान्‌से उत्पन्न हुआ है, वह चाहे तत्त्वात्मक सृष्टि-सर्ग हो या विविध प्रजात्मक सृष्टि-विसर्ग, सबके कल्याणके लिये जो धर्म है, उसको 'भागवत-धर्म' कहते हैं।

जब सबके कल्याणके लिये भागवत-धर्म है, तब उसमें एशिया, अफ्रीका, यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदिका राष्ट्रभेद कैसे हो सकता है? वह तो सबके लिये, अन्ताराष्ट्रके लिये कल्याणकारी होता है। फलतः 'अमुक वस्तु धर्म है और अमुक वस्तु अधर्म, अमुक क्रिया धर्म है और अमुक क्रिया अधर्म'—इस ढंगसे धर्मका प्रतिपादन भागवत-धर्म नहीं करता; क्योंकि वस्तु और क्रिया—यह जो गुण-दोषकी ऐन्द्रियक उपलब्धि होती है, उसकी अपेक्षा गुणरूप और दोषरूप पदार्थ या क्रिया मानी जाती है। अतः गुण-दोषके विचारसे धर्माधर्मका निर्णय नहीं होता, विधि-निषेधके विचारसे ही उसका निर्णय होता है।

ऐन्द्रियक उपलब्धिरूप जो गुण-दोष हैं, वे धर्माधर्मके निर्णयमें प्रमाण नहीं; विधि-निषेध ही धर्माधर्ममें प्रमाण हैं। अतः श्रीमद्भागवत केवल सत्यके सम्बन्धमें ही सर्वत्र भरपूर है। बल्कि 'सर्वत्र' कहनेसे जो देशका बोध होता है, उससे भी परे वह परिपूर्ण है। श्रीमद्भागवतका सत्य सार्वकालिक है। इसमें जो काल-सम्बन्ध लगता है, उससे भी परे जो कालातीत है, वही सत्य भागवतका सत्य है। वस्तुओंका भेद मिटाकर जो सम्पूर्ण वस्तुओंमें रहनेवाला है, उसीका वर्णन यहाँ है।

इसीलिये एक कक्षामें ही सीमित कर देना कि 'समाधि लगानेसे भागवत-धर्म होता है', ठीक नहीं। वर्णन तो ऐसा भी आया है कि निरर्थक कर्म भी भागवत-धर्म होते हैं।

एक मनुष्यको भय लगा तो वह भागा। उसके मनमें आया—'मन्दिरमें भगवान् हैं; वहाँ जाकर छिप

जाऊँ।' पर मन्दिरतक पहुँच नहीं पाया; मार्गमें ही मर गया। फिर भी उसके द्वारा भागवत-धर्मका पालन हो गया; क्योंकि उसका उद्देश्य भगवान्‌के समीप पहुँचना जो बन चुका था।

केवल सत्यका अनुसंधान करना, सम्पूर्ण प्राणियोंका हित करना, देश-काल-वस्तुमें सीमित न होना, यही 'भागवत-धर्म' है। मानव-धर्मकी विलक्षण गति है। 'मनुष्य कौन' ?—'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति' (निरुक्त ३। २। ७। १)—वे जो अपने मनसे मननका सम्बन्ध जोड़कर काम करते हैं।'

मनुष्य श्रद्धा एवं मनुकी संतान हैं। केवल वैज्ञानिकोंके लिये ही मानवता नहीं, जो वैज्ञानिक अनुसंधान नहीं कर पाते, उन श्रद्धालुओंके लिये भी मानवतामें स्थान है। बिना श्रद्धाके कोई मानव 'मानव' नहीं बनता।

जो मननशील हो, उसे 'मनु' कहते हैं। जो श्रद्धा-सम्पन्न हो, उसे 'श्रद्धालु' कहते हैं। मानवके मूलमें माताके रूपमें 'श्रद्धा' और पिताके रूपमें मननात्मक 'मनु' हैं। 'मानव' उसे कहते हैं, जो विचार और श्रद्धा—दोनोंद्वारा संचालित हो।

इसीलिये भागवत-धर्म केवल ज्ञानियों, विचारवानोंके लिये ही नहीं है।

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥
(श्रीमद्भागवत ११। २। ३४)

भगवान्‌ने अज्ञानियोंके लिये भी जिस कल्याणकारी धर्मका उपदेश किया है, वही भागवत-धर्म है।

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे।
स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् सम्प्रकाशितम्॥
(श्रीमद्भागवत १२। १३। १०)

'भगवता ब्रह्मणे प्रोक्तं भागवतम्'—भगवान्‌ने करुणा-परवश हो सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अपनी प्राप्तिकी दृष्टिसे, सब तरहकी परिच्छिन्नता-संकीर्णताकी सीमित भावनाओंसे मुक्त हो, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमसत्य परमात्माकी ओर प्राणी अग्रसर हों—इस दृष्टिसे ब्रह्माको अर्थात् समष्टि अन्तःकरणमें स्थित हिरण्यगर्भको अन्तर्यामी प्रभुने अपनी प्राप्तिके जो उपाय बतलाये, जिनसे हिरण्यगर्भसे लेकर स्तम्ब (लघु तृण) पर्यन्त सबका कल्याण हो; लौकिक-पारलौकिक परम मङ्गल हो, जिससे सबके अर्थकी सिद्धि हो, धर्मकी सिद्धि हो, भोगकी सिद्धि हो, मोक्षकी सिद्धि हो और प्राणीको सब प्रकारका मङ्गल प्राप्त हो, उस धर्मका नाम 'भागवत-धर्म' है।

इस धर्मके साथ 'भारतीय' शब्द जुड़ा नहीं है। धर्मके पहले तो कोई 'उपपद' लगता ही नहीं। लोग जब किसी आचार्य-विशेषके साथ उसका सम्बन्ध जोड़ देते हैं, तब उसका नाम बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म, ईसाई-धर्म, इस्लाम-धर्म आदि हो जाते हैं। हमारे भारतीय साहित्यमें, वैदिक-वाङ्मयमें सर्वत्र 'धर्म' शब्दका प्रयोग बिना किसी विशेषणके होता है। देखिये—

'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति।'
(तैत्तिरीय आरण्यक १०। ६३)

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'
(वैशेषिकदर्शन १। १। १, २)

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।'
(मीमांसादर्शन १। १। २)

इन सभी धर्मलक्षण-वचनोंमें कहीं भी धर्मके साथ कोई विशेषण नहीं है। धर्म तो सम्पूर्ण भागवत-सृष्टिके कल्याण, रक्षण एवं मङ्गलके लिये होता है।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि हमलोग जिस ईश्वरका निरूपण करते हैं, वह ईश्वर वही है, जो समग्र सृष्टिकी उत्पत्तिके पूर्व था एवं सृष्टिके नाशके अनन्तर भी रहेगा। उसमें जाति, देश या सम्प्रदायका कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा ईश्वर हिंदू-ईश्वर, ईसाई-ईश्वर या मुस्लिम-ईश्वर नहीं है। हमारा ईश्वर जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है।

अनेक धर्म ईश्वरकी स्वीकृतिके बिना भी चलते हैं; लेकिन जो धर्म ईश्वरको स्वीकार करते हैं, उनमें भी ईश्वरके स्वरूपपर विचार न करनेके कारण बड़ी गड़बड़ी हो जाती है। कई धर्मोंमें ईश्वर निराकार माना जाता है और वह सृष्टि बनाकर उससे सर्वथा पृथक् रह जाता है; लेकिन वैदिक-धर्मके सभी सम्प्रदाय—शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि यह स्वीकार करते हैं कि 'ईश्वर सृष्टि रचकर उससे पृथक् नहीं हो जाता, स्वयं वह सृष्टिके रूपमें समा जाता है। वही सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है।' जैसे घड़ेमें मिट्टी, आभूषणमें सोना, हथियारमें लोहा, कपड़ेमें सूत है, वैसे ही ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टिमें सृष्टिके स्वरूपसे ही विद्यमान है।

श्रीमध्वाचार्य कहते हैं—'**अहम् इदं सर्वं भगवानेव**'। लोग दूसरे धर्मों, सम्प्रदायोंके ईश्वरकी कल्पना हमारे शास्त्रप्रतिपादित ईश्वरके साथ जोड़ देते हैं तो बड़ी भारी गड़बड़ी हो जाती है। हमारा ईश्वर इस सृष्टिके रूपमें साक्षात् विद्यमान है। वह हमारे जीवनमें है। हमारे चलने-बैठने, बोलने-करने, खाने-पीने—यहाँतक कि सोनेमें भी वह है। इसी कारण केवल निर्विचार दशामें ही ईश्वरकी प्राप्ति नहीं है, केवल समाधिमें ही ईश्वरकी प्राप्ति नहीं है—

'जहँ जहँ चलौं सोई परिकरमा, जो जो करौं सो पूजा।'

यह समदृष्टि हमारे ईश्वरके ज्ञानके साथ-साथ जुड़ी है।

* * * *

जितने द्वैत हैं, वे सब-के-सब मिथ्या हैं। जैसे—प्रमाण-प्रमेय, कार्य-कारण, द्रष्टा-दृश्य, आत्मा-अनात्मा आदि। सभी द्वैत प्रतीत्यसमुत्पाद्य हैं। हम जब किसीका बेटा होना निश्चित करते हैं तो उसके बापका होना भी निश्चित हो जाता है; जब किसीका बाप होना निश्चित करते हैं तो उसके बेटा होनेका भी निश्चय हो जाता है। यह बाप-बेटा दोनों, दोनोंकी प्रतीतिकी अपेक्षा रखते हैं। इसलिये 'हमें इन्द्रियोंसे इस वस्तुकी उपलब्धि होती है', इस आधारपर जब हम किसी तत्त्वका निश्चय करते हैं, तब इन्द्रियोंकी सामर्थ्यकी कमी—उनके द्वारा केवल नाम-रूप, शब्द-स्पर्श-गन्धका आकर्षण-विकर्षण—हमें उलझा लेते हैं। उनके द्वारा सिद्ध तत्त्वका ग्रहण नहीं होता।

वैष्णवजनोंने कहा—'कार्य-कारण—दोनों सत्य हैं।'

श्रीमद्भागवतके दृष्टिकोणपर विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि 'कार्य-कारण दोनोंसे परे, दोनोंसे विलक्षण एक वस्तु है, वही सत्य है। कार्य-कारण दोनों उसमें अध्यारोपित हैं।' '**यदध्यारोपितं तन्निषिध्यते**।—जिसका अध्यारोप होता है, उसका निषेध भी हो जाता है।' जिसमें अध्यारोप होता है, उसमें अध्यारोपितका निषेध हो जानेके बाद वह वस्तु ज्यों-की-त्यों सत्य रह जाती है।

उपासना-सिद्धान्तमें सत्यको ही दो प्रकारका मानते हैं—१—ईश्वर-सत्य, २—जगत्-सत्य। ईश्वर बनानेवाला, रहनेवाला नित्य-सत्य है, जगत् बननेवाला या मिटनेवाला दूसरा सत्य है।

बौद्ध कहते हैं—'आप जिसे एक और दो श्रेणीका सत्य मानते हैं, वह सापेक्ष है। अतः दोनों ही निःस्वभाव हैं। बिना कार्यके कारणका और बिना कारणके कार्यका कोई अस्तित्व ही नहीं।'

इसका उत्तर देनेके लिये वेदान्तका मत ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भागवतमें है। वह मत है—'असत्य दो प्रकारका है—(१) जो कभी नहीं भासता, जैसे—आकाश-कुसुम, वन्ध्यापुत्र और (२) जो भासता हुआ भी परिवर्तनशील होता है; यह कालमें बाधित हो जाता है। किंतु सत्य तो एक ही है और वह ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कालकी दाल नहीं गलती। उसमें देशका प्रवेश नहीं है। उसमें कार्य-कारणभाव नहीं है।'

श्रीमद्भागवतमें इसी परम सत्यका निरूपण किया गया है। यह परम सत्य न उपासना-सिद्धान्तमें मान्य उभयविध सत्य है और न बौद्धोंद्वारा खण्डित उभयविध असत्य। यह दोनोंसे विलक्षण अद्वितीय सत्य है। भागवत-धर्म इसी परम सत्यका उद्घोष करता है।

महात्मा वेङ्कटनाथ

(लेखक—श्रीरामलाल)

महात्मा वेङ्कटनाथ आचार्य रामानुजद्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत-मतके असाधारण तत्त्वज्ञ थे। उनका वेदान्तदेशिक नाम उनकी उच्चकोटिकी विद्वत्ता और अप्रतिम दार्शनिकता-का विशिष्ट परिचायक है। वे मध्यकालीन भारतीय इतिहासकी एक सर्वमान्य आध्यात्मिक विभूति थे। वे अध्यात्म-साहित्यके परम मर्मज्ञ तथा उच्चकोटिके वैष्णव कवि और भगवद्भक्त थे। भगवान् विष्णु—रङ्गनाथ और उनकी नित्य सङ्गिनी भगवती लक्ष्मीमें उनकी अनुपम भक्ति और प्रगाढ़ श्रद्धा थी। उन्होंने अपने एक सौ दो वर्षके पुण्यमय जीवनकालमें प्रचुर वैष्णव-साहित्यका सृजन किया। उन्हें 'कवि-तार्किक-सिंह' कहा जाता है। वे संस्कृत और तमिळ भाषाके महान् पण्डित थे। आजीवन गृहस्थाश्रममें जीवन-यापन करते हुए उन्होंने भागवत-धर्मकी विजय-वैजयन्ती फहरायी। वे गृहस्थ संत थे। संतोंके चरण-देशमें उनकी अद्भुत निष्ठा थी। संतोंसे श्रीवेङ्कटनाथने आध्यात्मिक साधनाकी महती प्रेरणा प्राप्त की। उनकी उक्ति है कि 'जिनके मस्तकपर भगवान् रङ्गराजकी चरण-पादुका शोभित है तथा जिनकी चरण-कमल-धूलि समस्त जगत्‌की रक्षा करती है, उन संतोंकी ही जय हो।'

सन्तश्श्रीरङ्गपृथ्वीशचरणत्राणशेखराः ।
जयन्ति भुवनत्राणपदपङ्कजरेणवः ॥
(पादुकासहस्र १)

महात्मा वेङ्कटनाथने सद्गुरुकी तरह असंख्य प्राणियोंको जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्तकर मोक्षपदमें प्रतिष्ठित किया। उन्होंने विशिष्टाद्वैत दर्शनके प्रकाशमें लोगोंको संसार-सागरसे तरनेका उपाय बताया।

श्रीवेङ्कटनाथने दक्षिण भारतके काञ्चीवरम् स्थानको अपनी पवित्र उपस्थितिसे गौरवान्वित किया था। काञ्चीवरम्‌के संनिकट थूपिल गाँवमें उनका जन्म हुआ था। उनके पिताका नाम अनन्तसूरि था और माँका नाम तोतारम्बा। अनन्तसूरि सोमयाजी अपनी सहधर्मिणीके साथ निवास करते हुए भगवान्‌के भजनमें तत्पर हो संतोषपूर्ण ढंगसे अपने जीवनके बहुमूल्य समयको सार्थक करते थे। एक दिन रातमें भगवान् श्रीवेङ्कटेश्वरने स्वप्नमें दम्पतिको अपने दिव्य दर्शनसे कृतार्थ किया, उन्हें तिरुपति आनेकी प्रेरणा दी और आश्वासन दिया कि 'तिरुपतिकी तीर्थयात्राके फलस्वरूप उन्हें वैष्णव पुत्ररत्नकी प्राप्ति होगी।' दम्पतिने तिरुपतिकी यात्रा की। उन्होंने वहाँ भगवान् श्रीवेङ्कटेश्वरकी पूजा की। रातमें तोतारम्बाको स्वप्नमें श्रीवेङ्कटेश्वरने एक बालकके रूपमें दर्शन देकर मन्दिरका घंटा प्रदान किया और कहा कि घंटा ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होगा। प्रातःकाल मन्दिरमें घंटा नहीं था। दम्पतिने लोगोंसे स्वप्नका वृत्तान्त बता दिया। तिरुपति-मन्दिरके यतिराजने कहा कि इसी तरहका स्वप्न मुझे भी हुआ था और भगवान्‌का घंटेके सम्बन्धमें उपर्युक्त आशयका आदेश प्राप्त हुआ था। अनन्तसूरि अपनी पत्नीके साथ तिरुपतिसे थूपिल चले आये। तोतारम्बा बारह सालतक गर्भवती रहीं। संवत् १३२५ वि०में भाद्रमासकी शुक्ला दशमीको उन्होंने बालकको जन्म दिया। नवजात शिशुका नाम वेङ्कटनाथ रखा गया। श्रीवेङ्कटनाथका जन्म श्रीदीपप्रकाशस्वामीके मन्दिरके निकटस्थ पवित्र वातावरणमें हुआ था। उन्हें 'श्रीवेङ्कटेश्वरका घंटावतार' कहा जाता है।

एक सालके बाद श्रीवेङ्कटनाथको काञ्चीवरम्‌के वरदराज स्वामीके मन्दिरमें ले जाया गया। भगवान्‌ने उनपर कृपावृष्टि की और कहा कि 'आचार्य रामानुजके वैष्णव-धर्मको प्रगति-पथपर ले चलनेमें वे अद्भुत शक्तिका परिचय देंगे।' उनकी शिक्षा-दीक्षा आत्रेय रामानुजकी देख-रेखमें सम्पन्न हुई। आत्रेय रामानुज तोतारम्बाके भाई थे और वेङ्कटनाथके मामा लगते थे। उन्होंने वैष्णवमतके प्रचारके लिये अपने ७४ शिष्य नियुक्त किये थे, जो 'सिंहासनाधिपति' कहे जाते हैं। उनमें एक शिष्य अनन्त सोमयाजी थे, जिनके पुत्र अनन्तसूरि थे। आत्रेय रामानुज उपर्युक्त ७४ पीठोंमेंसे एक प्रधान पीठके अधिपति थे, जिनकी बहन तोतारम्बाका विवाह अनन्तसूरिसे हुआ था। यज्ञोपवीत-संस्कार-सम्पन्न होनेके बाद वेङ्कटनाथको शिक्षा पानेके लिये आत्रेय रामानुजके पास भेजा गया। वे बड़े प्रतिभाशाली थे। उन दिनों 'तत्त्वसार'के प्रणेता प्रख्यात विद्वान् वरदाचार्य-

की बड़ी ख्याति थी। बड़े-बड़े विद्वानोंके वे शिक्षागुरु थे। आत्रेय रामानुज भी उनसे अध्ययन करते थे। एक दिन श्रीवेङ्कटनाथको साथ लेकर वे वरदाचार्यके पास गये। उस समय उनकी अवस्था केवल पाँच वर्षकी थी। प्रतिभाशाली बालकको देखकर श्रीवरदाचार्य चकित हो उठे। वे उसकी ओर अनवरत देखने लगे और जिस विषयपर बोल रहे थे, उसकी उन्हें सुधि ही नहीं रही। पुनः बोलते समय वे उस स्थलको भूल गये, जहाँ उन्होंने बोलना बंद किया था। श्रीवेङ्कटनाथने उन्हें उस स्थलकी याद दिलायी; बालककी असाधारण प्रतिभासे प्रसन्न होकर उन्होंने तत्काल उन्हें आशीर्वाद दिया कि 'तुमसे वेदान्तकी प्रतिष्ठा हो, तुम्हारे द्वारा बाह्यमतका खण्डन हो, तीनों वेदोंके मर्मज्ञ तुम्हारा सम्मान करें, तुम्हारा कल्याण हो।'

प्रतिष्ठापितवेदान्तः प्रतिक्षिप्तबहिर्मतः।
भूयास्त्रैविद्यमान्यस्त्वं भूरिकल्याणभाजनम्॥

श्रीवेङ्कटनाथने इक्कीस वर्षकी अवस्थामें वेद, वेदान्त, उपनिषदों, पुराणों, सत्-शास्त्रों और इतिहास आदिका अच्छी तरह अध्ययन कर लिया था। बड़े-बड़े विद्वानों और आचार्योंने उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक स्वीकार कर लिया। वे वेदान्तदेशिक तथा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वेदान्ताचार्यके रूपमें प्रसिद्ध हुए।

विद्याध्ययनके पश्चात् उन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। विवाह करके वे आजीवन गृहस्थ-धर्मका पालन करते रहे। उनके जीवनमें सरलता और पवित्रताका दिव्य दर्शन होता है। न तो वे पैतृक सम्पत्तिके स्वामी थे और न धन-संग्रहमें ही उनकी रुचि थी। वे सदा उञ्छवृत्तिसे अपनी जीविका चलाते थे। धन-ऐश्वर्य, सांसारिक प्रतिष्ठा तथा अहंकार-प्रदर्शनमें उनकी सर्वथा अनासक्ति थी। लोगोंकी उनमें बड़ी श्रद्धा और भक्ति थी। निस्संदेह वे गृहस्थ-वेषमें मूर्तिमान् वैराग्य थे। भगवान् श्रीरङ्ग, हयग्रीव, वेङ्कटेश्वर आदि भगवत्स्वरूपोंमें उनकी अटल निष्ठा और भक्ति थी। उन्होंने अनेक काव्यों, स्तोत्रों और निबन्धोंका प्रणयन कर भगवान्‌के यशका वर्णन किया। वैष्णव-काव्यकारिताके क्षेत्रमें यह उनका अप्रतिम योगदान स्वीकार किया गया है। भगवान् श्रीहयग्रीवमें महात्मा वेङ्कटनाथकी अपूर्व निष्ठा थी। वे श्रीवैनतेय—गरुड और श्रीभगवान्‌के दर्शनके लिये कुद्दालोर गये। मार्गमें मदुरान्तकम्-मन्दिरमें वे ठहर गये। उन्हें श्रीगरुडका साक्षात्कार हुआ और उनके आदेशसे श्रीहयग्रीवकी आराधनाके लिये उन्होंने कुद्दालोरकी ओर प्रस्थान किया। उन्होंने गरुडका स्तवन किया—

नमः पन्नगनद्धाय वैकुण्ठवशवर्तिने।
श्रुतिसिन्धुसुधोत्पादमन्दराय गरुत्मते॥
(गरुडदण्डक)

कुद्दालोरमें श्रीवेङ्कटनाथ भगवान् श्रीहयग्रीवके ध्यानमें तत्पर हो गये। उनकी प्रार्थनासे आकृष्ट होकर भगवान् हयग्रीवने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। अपने मुखसे निकले अमृत-फेनसे उन्होंने उनको तृप्त किया। इस अमृत-फेन अथवा दिव्य झागसे उनकी प्रतिभा निखर उठी। उनकी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ गयी। भगवान् श्रीहयग्रीवने उन्हें आचार्य रामानुजके सिद्धान्तको परिपुष्ट और संवृद्ध करनेका आदेश दिया और कहा कि 'आपके द्वारा सत्‌का ही पोषण सापेक्ष है। आपके मुखसे निरन्तर सत्य-वचनामृत ही प्रवाहित होते रहना चाहिये।' श्रीवेङ्कटनाथने भगवान् श्रीहयग्रीवका अनेक प्रबन्धोंमें यश निरूपित किया। कुद्दालोरसे काञ्चीवरम् (थूपिल) वापस आनेपर आत्रेय रामानुजने अपने आराध्यदेव भगवान् श्रीहयग्रीवका श्रीविग्रह श्रीवेङ्कटनाथके पास काञ्चीवरम् भेज दिया। प्रभुके श्रीविग्रहको प्राप्तकर उन्होंने अपने सौभाग्य-की सराहना की और उसकी उपासनामें तत्पर हो गये। उन्होंने श्रीहयग्रीवके सम्बन्धमें अनेक स्तोत्रोंकी रचना की। उनकी भक्तिपूर्ण उक्ति है कि मैं 'ज्ञानानन्दमय देव, निर्मल स्फटिककी आकृतिवाले तथा समस्त विद्याओंके आधार भगवान् श्रीहयग्रीवकी उपासना करता हूँ।'

ज्ञानानन्दमयं देवं निर्मलस्फटिकाकृतिम्।
आधारं सर्वविद्यानां हयग्रीवमुपास्महे॥
(श्रीहयग्रीवस्तोत्र १)

श्रीवेङ्कटनाथका भगवान् श्रीवेङ्कटेश्वरके चरणोंमें अमित अनुराग था। उनके दर्शनके लिये उन्होंने तिरुपतिकी यात्रा की। उन्होंने भगवान् श्रीवेङ्कटेश्वरकी पूजा की तथा उनकी प्रसन्नताके लिये 'दयाशतकम्' ग्रन्थकी रचना की। 'दयाशतकम्' शरणागति-मन्त्रसारकी एक विस्तृत टीका है। इसमें शरणागतिका बड़ा सुन्दर विवेचन उपलब्ध होता है। उन्होंने भगवती कृपासे प्रार्थना की—'हे माँ! आपकी प्रसन्नतासे बढ़कर मेरे लिये आपसे याचना करने-

की दूसरी वस्तु ही क्या हो सकती है ? भगवान् श्रीवेङ्कटेश्वर मुकुन्द मुझे भक्ति प्रदान करें, यही आपकी कृपा अथवा प्रसन्नताका मुझे फल मिले; बस, इतना ही अनुग्रह मुझ-पर हो जाय।'

नातः परं किमपि मे त्वयि नाथनीयं
मातर्दये मयि कुरुष्व तथा प्रसादम्।
बद्धादरो वृषगिरिप्रणयी यथासौ
मुक्तानुभूतिमिह दास्यति मे मुकुन्दः ॥
(दयाशतक १००)

श्रीवेङ्कटनाथने उत्तर भारतके पवित्र तीर्थस्थान वाराणसी, मथुरा-वृन्दावन तथा अयोध्या आदिके लिये प्रस्थान किया। रास्तेमें तुङ्गभद्रा नदीके तटपर स्थित विजयनगर राज्यके अद्वैतमतके दार्शनिक विद्वान् तथा अपने सहपाठी महामति विद्यारण्यसे इन्होंने भेंट की। तीर्थयात्रा पूरी कर लौटनेके पश्चात् विजयनगर राज्यके महामन्त्री विद्वान् मित्र विद्यारण्यने श्रीवेङ्कटनाथको विजयनगरके राज्याधीश्वरके संरक्षणमें जीवन-यापन करनेके लिये आमन्त्रित किया। वे उनका बड़ा आदर करते थे। श्रीवेङ्कटनाथने उनका निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। उन्होंने विद्यारण्यको लिखा कि 'मेरे सर्वस्व तो काञ्चीवरम्के हस्तिशैलपर विराजमान भगवान् वरदराज स्वामी हैं; मैं सांसारिक भोग-विलासके लिये उनके पवित्र सांनिध्यका परित्याग कर क्षणभङ्गुर राजवैभवके स्वामी महाराजा कृष्णदेवरायका संरक्षण स्वीकार नहीं कर सकता; मुझे प्रभु-के संनिधानमें परम संतोष मिलता है।' महामति विद्यारण्य उनकी इस विनम्रता और संसारकी सुख-समृद्धिके प्रति अना-सक्तिसे आश्चर्यचकित हो उठे।

श्रीवेङ्कटनाथका जीवन निःस्पृहता, सात्त्विक सरलता और भगवान् विष्णुके प्रति पूर्ण प्रपन्नताका प्रतीक था। उनकी वैष्णवसुलभ विनम्रता असाधारण थी। एक दिन एक वैष्णवने उनकी विनम्रताकी परीक्षाके लिये उन्हें अपने घरपर पधारनेका निमन्त्रण दिया। उसने अपने घरके दरवाजेपर खड़ाऊँका एक जोड़ा लटका दिया था। महात्मा वेङ्कटनाथने खड़ाऊँ मस्तकसे लगाकर विनम्रता प्रकट की। उनकी उक्ति है कि 'कुछ लोग कर्मका आश्रय लेनेवाले हैं तो अन्य कुछ लोग ज्ञानके आधारपर चलनेवाले हैं; हम-लोगोंके लिये तो हरिदासोंके चरण-कमल ही अवलम्ब हैं।'

कर्मावलम्बकाः केचित् केचिज्ज्ञानावलम्बकाः।
वयं तु हरिदासानां पादपद्मावलम्बकाः ॥

श्रीवेङ्कटनाथ विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायके प्रमुख कर्णधारोंमें परिगणित हैं। उन्होंने भगवान्की भक्ति और शरणागति-को ही आध्यात्मिक जीवनका मूलाधार स्वीकार किया और यह सिद्ध कर दिया कि 'गृहस्थ बिना संन्यासका वरण किये ही भक्ति और शरणागतिके सहारे मोक्षपदमें प्रतिष्ठित हो सकता है।' श्रीसुदर्शन, जो विशिष्टाद्वैत-मतके महान् पोषक थे, वृद्ध हो चले; ऐसी स्थितिमें उनके स्थानको विभूषित करनेके लिये अपने प्रशंसकों और अनुयायियोंके विशेष आग्रहसे श्रीवेङ्कटनाथ श्रीरङ्गम् चले आये और वहाँके निवास-कालमें उन्होंने विशिष्टाद्वैत-मतके पोषण तथा भगवद्भक्तिके रसास्वादनके लिये अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। श्रीरङ्गम्में उन्हें भगवान् श्रीरङ्गराजकी आराधनाका सुनहला अवसर मिला।

श्रीवेदान्तदेशिक—महात्मा वेङ्कटनाथका प्रारम्भिक जीवन शास्त्रज्ञता और प्रगाढ़ विद्वत्ताके वातावरणसे अनुप्राणित था। उनका यौवनोत्तर जीवन विनम्रता और वैष्णवोचित शालीनतासे संयमित था। वे त्यागी गृहस्थ, भगवद्भक्त और निष्काम संत थे।

श्रीवेङ्कटनाथ विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायके 'वादगल' मतके पोषक थे। विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायके 'तेंगलै' मतके आचार्य भी उनका बड़ा आदर करते थे। उनकी आचार्य रामानुजमें बड़ी भक्ति और आदर-बुद्धि थी। वे महान् धर्मोपदेशक थे।

उन्होंने अपने जीवन-कालमें लगभग १०८ ग्रन्थोंकी रचना की थी। उनके द्वारा रचित प्रबन्धोंमें 'सुभाषितनीति' बहुत प्रसिद्ध है। अन्त समयमें उन्होंने अपना मत 'रहस्य-त्रयसार' नामक ग्रन्थमें संक्षेपसे लिखा है। वे तमिळ और संस्कृतके महान् पण्डित थे। उनके अधिकांश ग्रन्थ तमिळ भाषाके हैं। इनमेंसे गरुडपञ्चशती, अच्युतशतक, रघुवीरगद्य, दयाशतक, अभीतिस्तव, पादुकासहस्र, सुभाषित-नीति, रहस्यत्रयसार, संकल्पसूर्योदय, हंससंदेश, यादवाभ्युदय, तत्त्वमुक्ताकलाप, अधिकरणसारावली, न्यायपरिशुद्धि, न्यायसिद्धाञ्जन, शतदूषिणी, तत्त्वटीका, भगवद्गीता-टीका, गद्यत्रय-टीका, सेश्वरमीमांसा, ईशावास्योपनिषद्भाष्य, गीतार्थ-संग्रहरक्षा और वादित्रयखण्डन आदि विशेष लोकप्रिय हैं। उन्होंने आचार्य रामानुजकृत वेदान्तदर्शन—ब्रह्मसूत्रके श्री-भाष्यपर एक टीका भी प्रस्तुत की थी। यह टीका बड़ी विस्तृत है और 'तत्त्वटीका'के नामसे प्रसिद्ध है। उनके द्वारा श्रीमद्भगव-द्गीतापर लिखी गयी टीका 'तात्पर्यचन्द्रिका' कहलाती है। वेदान्तसूत्रके कई प्रसङ्गोंको दृष्टिमें रखकर उन्होंने 'अधिकरण-

सारावली'की रचना की। उन्होंने पूर्वमीमांसादर्शनके प्रकाशमें जैमिनि-सूत्रोंपर 'सेश्वरमीमांसा-भाष्य' लिखा था, जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि महर्षि जैमिनि ईश्वरवादी थे महर्षिने ईश्वरकी सत्ता स्वीकार की थी। 'रहस्यत्रय' उनके द्वारा तमिळभाषामें लिखित मौलिक तथा अनुपम ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार प्रपत्तिपर प्रकाश डाला है। अद्वैत-मतके सम्बन्धमें सौ आपत्तियोंका निरूपण करते हुए उन्होंने 'शतदूषिणी' ग्रन्थकी रचना की। विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तके पोषणमें उन्होंने पाँच सौ-श्लोकोंमें 'तत्त्वमुक्ताकलाप'का प्रणयन किया। विशिष्टाद्वैत मतके सम्बन्धमें 'न्यायसिद्धाञ्जन' उनके द्वारा रचित एक गद्यात्मक दार्शनिक प्रबन्ध है। 'न्यासदशक' भी एक प्रपत्ति-परक ग्रन्थ है। उन्होंने काञ्चीके इष्टदेवता भगवान् वरदराजकी प्रशस्तिमें 'वरदराजपञ्चशती'की रचना की। प्राकृत भाषामें उन्होंने 'अच्युतशतक' ग्रन्थ लिखा। 'परमतभङ्ग' तमिळभाषामें उनकी एक उत्कृष्ट रचना है। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णपर अत्यन्त मधुर संस्कृत भाषामें बीस श्लोकोंमें 'गोपालविंशति'की रचना की, जिसमें श्रीकृष्णके प्रति उनके हृदयकी प्रगाढ़ निष्ठा और भक्तिका परिचय मिलता है। उन्होंने 'हंससंदेश'में हंसके रूपमें भगवान् विष्णुद्वारा उपदिष्ट पाञ्चरात्र सिद्धान्त-पर प्रकाश डाला है।

'संकल्पसूर्योदय' उनकी एक महती कृति है। यह दस अङ्कोंमें रचित एक नाटक है, जो प्रतीकात्मक है। जो कार्य अद्वैत-मतके समर्थनमें ग्यारहवीं शतीमें श्रीकृष्णमिश्र-द्वारा रचित 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटकसे सम्पन्न हो सका, वही विशिष्टाद्वैत-मतके पक्षमें श्रीवेङ्कटनाथद्वारा प्रस्तुत 'संकल्पसूर्योदय'से पूर्ण हो सका। परमात्म-साक्षात्कारके पहले जीवात्माके अथक श्रम और तपःपूर्ण प्रयासका इस नाटकमें स्पष्ट दिग्दर्शन उपलब्ध होता है। यह नाटक शान्तरसप्रधान है। इसका नायक विवेक है, सुमति नायिका है। विवेक और सुमति आत्मा अथवा पुरुषको कर्मके बन्धनसे मुक्त करना चाहते हैं, पर अविद्याजन्य महामोह तथा विषय-वासनाओंके द्वारा इस पुण्यकर्ममें बाधा उपस्थित की जाती है। महामोह काम, क्रोध, दर्प और दम्भसे समर्थित चित्रित किया गया है। इस नाटकमें वेदान्तदेशिक—श्रीवेङ्कटनाथकी निवृत्तिमूलक शान्तरससे संवलित प्रतिभाका सहज परिचय मिलता है।

इन्होंने सुदर्शनाष्टक, षोडश आयुध स्तोत्र, भगवद्ध्यान-सोपान, श्रीस्तुति, भूस्तुति आदि स्तोत्र लिखे। सुदर्शनकी स्तुति है—

प्रतिभटश्रेणिभीषण वरगुणस्तोमभूषण
जनिभयस्थानतारण जगदवस्थानकारण।
निखिलदुष्कर्मकर्शन निगमसद्धर्मदर्शन
जय जय श्रीसुदर्शन जय जय श्रीसुदर्शन॥

(सुदर्शनाष्टक १)

उन्होंने 'षोडश आयुध स्तोत्र'में चक्र, परशु, कुन्त, अङ्कुश, शक्ति, पाञ्चजन्य शङ्ख, शार्ङ्ग धनुष, पाश, वज्र, मुशल, शूल आदिकी स्तुति की है। 'भगवद्ध्यानसोपान'में उन्होंने भगवान् श्रीरङ्गेश्वरके प्रति प्रगाढ़ भक्ति प्रकट की है। उनकी उक्ति है—

रङ्गस्थाने रसिकमहिते रञ्जिताशेषचित्ते
विद्वत्सेवाविमलमनसा वेङ्कटेशेन क्लृप्तम्।
अक्लेशेन प्रणिहितधियामप्युरुक्षोरवस्थां
भक्तिं गाढां दिशतु भगवद्ध्यानसोपानमेतत्॥

(भगवद्ध्यानसोपान १२)

महात्मा वेङ्कटनाथने अपनी 'श्रीस्तुति' नामकी रचनामें भगवती श्रीके प्रति भक्तिपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए कहा है कि 'आप मेरी माता तथा भगवान् वासुदेव मेरे पिता हैं। मैंने आप दोनोंकी दयासे जन्म प्राप्त किया है।...आप कल्याणकी सम्पूर्ण निधि हैं, मूर्तिमती अपरिसीम करुणा हैं। आप परमानन्दमयी वेदविहारिणी महाशक्ति हैं। आप श्रुतियोंकी शिरोभूषणरूपा हैं, मन्दारपुष्पोंकी परम सुगन्धित माला हैं। आप समस्त जगत्के प्राणियोंकी प्रार्थनाकी पूर्तिस्वरूपिणी साक्षात् कामधेनु हैं। आप मधुविजयी भगवान् विष्णुकी दिव्य सम्पत्ति हैं। मैं आपके संनिधानका सदा रसास्वादन करूँ, मुझपर यही कृपा कीजिये।'

माता देवि त्वमसि भगवान् वासुदेवः पिता मे
जातः सोऽहं जननि युवयोरेकलक्ष्यं दयायाः।
दत्तो युष्मत्परिजनतया देशिकैरप्यतस्त्वं
किं ते भूयः प्रियमिति किल स्मेरवक्त्रा विभासि॥
कल्याणानामविकलनिधिः कापि कारुण्यसीमा
नित्यामोदा निगमवचसां मौलिमन्दारमाला।
सम्पद्दिव्या मधुविजयिनः संनिधत्तां सदा मे
सैषा देवी सकलभुवनप्रार्थनाकामधेनुः॥

(श्रीस्तुति २३-२४)

परम वैष्णव महात्मा वेङ्कटनाथने भगवान् विष्णुके वराहरूपकी रमणी भगवती पृथ्वीकी शरणका वरण करते हुए अपनी काव्यवाणी सफल की है। उनका कथन है, 'भगवती पृथ्वी समस्त संकल्पोंकी पूर्ति करनेवाली कल्पलता

हैं, असीम क्षमामयी हैं, भगवान् वराहदेवकी राजमहिषी हैं, सहज-सुलभ कृपामयी हैं, समस्त विश्वके प्राणियोंकी माता हैं, अकिंचन जनोंकी सारी कामनाओंको सफल करनेवाली साक्षात् कामधेनु हैं और सारे विश्वका भरण-पोषण करनेवाली हैं। सर्वथा शरणहीन मैं उनके शरणागत हूँ।'

संकल्पकल्पलतिकामवधिं क्षमायाः
स्वेच्छावराहमहिषीं सुलभानुकम्पाम्।
विश्वस्य मातरमकिंचनकामधेनुं
विश्वम्भरामशरणः शरणं प्रपद्ये॥
(भूस्तुति १)

उन्होंने पृथ्वीको सम्बोधन करते हुए निवेदन किया कि 'हे मायावराहकी सहधर्मिणी ! हे माता !! आपके दयापूर्ण कटाक्ष मेरी सम्पूर्ण सांसारिक—दैविक, दैहिक और भौतिक—तीनों तापोंकी पीड़ाका शमन करते हुए मुझपर मधुरामृतकी वृष्टि करें।'

तापत्रयीं निरवधिं भवती दयार्द्राः
संसारघर्मजनितां सपदि क्षिपन्तः।
मातर्भजन्तु मधुरामृतवर्षमैत्रीं
मायावराहदयिते मयि ते कटाक्षाः॥
(भूस्तुति ३१)

उनकी 'दयाशतक' रचना एक अत्यन्त प्रौढ़ काव्यकृति है। उन्होंने तिरुपतिके श्रीवेङ्कटेश्वर भगवान्‌को प्रसन्न करने तथा उनकी भक्ति प्राप्त करनेके लिये उसकी रचना की थी। इसमें उनकी महत्त्वपूर्ण उक्ति है कि 'हे माँ ! आप सबका पालन-पोषण करनेवाली जननी हैं; चैतन्यरूप मधुर दूधसे सबको संतृप्त करनेवाली हैं; भगवान् श्रीनिवासकी कल्याणमयी मूर्तिमती करुणा हैं। मैं आपकी वन्दना करता हूँ।'

समस्तजननीं वन्दे चैतन्यस्तन्यदायिनीम्।
श्रेयसीं श्रीनिवासस्य करुणामिव रूपिणीम्॥
(दयाशतक ६)

भगवान्‌की करुणा ही अमङ्गल-अन्धकारका नाश करनेमें सक्षम है। श्रीवेङ्कटनाथ भगवान्‌की कृपाशक्तिसे कहते हैं कि 'हे श्रीधरकी करुणे ! आप अपना स्नेहरूपी तैल देकर, जिसमें अनुकूल दशारूपी बत्ती अर्पित की गयी है, उस शास्त्रमय स्थिर (ज्ञानरूपी) प्रदीपके द्वारा अपनी संतानके (अज्ञान-) अन्धकारका नाश कर देती हैं।'

अनुगुणदशार्पितेन श्रीधरकरुणे समाहितस्नेहा।
शमयसि तमः प्रजानां शास्त्रमयेन स्थिरप्रदीपेन॥
(दयाशतक १८)

अपने आपको महान् अपराधी घोषित करते हुए वे भगवती दयासे स्वयंको भगवान् श्रीवेङ्कटेश्वरके चरण-संनिधानमें समुपस्थित करनेकी याचना करते हैं। उनका कथन है कि 'मैं अपराधोंका चक्रवर्ती सम्राट् हूँ और हे देवि दये ! आप सद्गुणोंकी सम्राज्ञी हैं, मेरी ऐसी स्थितिको आप जानती हैं, अतः मुझे वेङ्कटेश्वर भगवान्‌के चरणोंके अधीन कर दीजिये।'

अहमस्म्यपराधचक्रवर्ती करुणे त्वं च गुणेषु सार्वभौमी।
विदुषी स्थितिमीदृशीं स्वयं मां वृषशैलेश्वरपादसात्कुरु त्वम्॥
(दयाशतक ३०)

श्रीवेङ्कटनाथकृत 'यादवाभ्युदय' श्रीकृष्णभक्तिपरक अवतरित सरस काव्य है। उन्होंने श्रीकृष्णके रूपमें भगवान् विष्णुके पवित्र चरित्रका भव्य शब्दाङ्कन अपने इस काव्यमें किया है। उन्होंने काव्यके आरम्भमें वृन्दावनमें विचरण करनेवाले, जयन्ती* तिथिको अवतार लेनेवाले, वैजयन्तीमालासे विभूषित, परम प्रकाशस्वरूप गोपीजनवल्लभकी वन्दना की है—

वन्दे वृन्दावनचरं वल्लवीजनवल्लभम्।
जयन्तीसम्भवं धाम वैजयन्तीविभूषणम्॥
(यादवाभ्युदय १ । १)

श्रीभगवान्‌के गुण-वर्णनमें अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि 'जब भगवान्‌के एक-एक गुणके वर्णनमें वेदरूप वन्दी भी असमर्थ सिद्ध हुए, तब यह स्वीकार कर लेना नितान्त आवश्यक है कि साधारण सामर्थ्यके लोग भगवान्‌का पूर्णरूपसे गुण-वर्णन करनेमें सर्वथा असमर्थ और अयोग्य हैं ही।'

यदेकैकगुणप्रान्ते श्रान्ता निगमवन्दिनः।
यथावद्वर्णने तस्य किमुतान्ये मितम्पचाः॥
(यादवाभ्युदय १ । २)

भगवान्‌द्वारा विश्वोत्पत्तिके सम्बन्धमें श्रीवेदान्तदेशिककी विलक्षण उक्ति है कि 'परम पुरुष, जगन्नियन्ता,

* यदि आधी रातके समय भाद्रकृष्ण अष्टमी तिथिका एक चौथाई अंश भी दृष्टिगोचर होता है तो वही व्रतका मुख्य काल है। उसी समय साक्षात् श्रीहरिने अवतार ग्रहण किया। यह तिथि जय और पुण्य प्रदान करती है; इसलिये 'जयन्ती' कही गयी है—

अष्टमीपादमेकं तु रात्र्यर्द्धे यदि दृश्यते।
स एव मुख्यकालश्च तत्र जातः स्वयं हरिः॥
जयं पुण्यं च कुरुते जयन्ती तेन सा स्मृता॥
(ब्रह्मवैवर्त० कृष्णजन्मखण्ड ८ । ५०-५१)

लक्ष्मीपरिसेवित श्रीविष्णुने दयासे अभिभूत हो अपनी लीलामयी क्रीड़ाकी तूलिकासे स्वेच्छापूर्वक इस विचित्र विश्वका चित्राङ्कन किया।'

क्रीडातूलिकया स्वस्मिन् कृपारूषितया स्वयम्।
एको विश्वमिदं चित्रं विभुः श्रीमानजीजनत्॥
(यादवाभ्युदय १ । १९)

समस्त सम्पदाओंके एकमात्र मूल श्रीमुकुन्दके अवतरण-कालमें श्रीवसुदेवके स्थानपर देव-दम्पतियोंके आनन्दनिघ्न हाथों-द्वारा ऐसी पुष्पवृष्टि की गयी, जो सुस्वादु मकरन्दसे परिपूर्ण थी और जिसने दिग्दिगन्तको सुगन्धसे भर दिया था—

अवतरति मुकुन्दे सम्पदामेककंदे
सुरभितहरिदन्तां स्वादुमाध्वीकदिग्धाम्।
अभजत वसुदेवस्थानमानन्दनिघ्नै-
रमरमिथुनहस्तैराहितां पुष्पवृष्टिम्॥
(यादवाभ्युदय २ । ९७)

इस काव्यकी समाप्ति श्रीवेङ्कटनाथने इक्कीस सर्गोंमें की है। इसमें उनकी प्रगाढ़ श्रीकृष्णभक्ति अङ्कित है।

श्रीवेङ्कटनाथने एक हजार श्लोकोंमें श्रीरङ्गम्‌के आराध्य-देव भगवान् रङ्गनाथकी चरण-पादुकाका स्तवात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है। उन्होंने इस काव्यमें भक्तोंके प्रथम उदाहरण श्रीभरतकी प्रारम्भमें वन्दना की है। भरतजीने श्रीरामकी चरण-पादुकामें अविचल भक्तिका व्रत निवाहा था—

भरताय परं नमोऽस्तु तस्मै
प्रथमोदाहरणाय भक्तिभाजाम्।
यदुपज्ञमशेषतः पृथिव्यां
प्रथितो राघवपादुकाप्रभावः॥
(पादुकासहस्र १ । २)

उन्होंने श्रीरङ्गनाथकी दोनों पूजनीय चरण-पादुकाओंकी वन्दना करते हुए उनके महत्त्वका निरूपण इस प्रकार किया है—'इनके सामने जो अकड़े रहते हैं, उन्हें ये गिरा देती हैं तथा जो लोग इनपर नत होते हैं अथवा इन्हें प्रणति अर्पित करते हैं, वे उन्नतिके भाजन बन जाते हैं।'

वन्दे तद् रङ्गनाथस्य मान्यं पादुकयोर्युगम्।
उन्नतानामवनतिर्नतानां यत्र चोन्नतिः॥
(पादुकासहस्र ३ । १)

इनका कथन है कि 'समस्त अम्बरतल यदि पत्रिका (कागज) हो जाय, सातों समुद्र मिलकर यदि स्याही बन जाय और सहस्रवदन नागराज वक्ता हो जायँ तो श्रीरङ्गेश्वरकी दोनों चरण-पादुकाओंका प्रभाव अङ्कित किया जा सकता है।'

निश्शेषमम्बरतलं यदि पत्रिका स्यात्
सप्तार्णवी यदि समेत्य मषी भवित्री।
वक्ता सहस्रवदनः पुरुषः स्वयं चे-
ल्लिख्येत रङ्गपतिपादुकयोः प्रभावः॥
(पादुकासहस्र ३ । २)

इनकी पादुकाओंके तात्त्विक निरूपणमें उक्ति है कि 'ये श्रीरामपादसहधर्मचारिणी हैं, समस्त जगत्‌की अधीश्वरी हैं, समस्त पापोंका नाश करनेवाली तथा श्रीभरतकी अधिदेवता हैं।'

रामपादसहधर्मचारिणीं
पादुके! निखिलपातकच्छिदम्।
त्वामशेषजगतामधीश्वरीं
भावयामि भरताधिदेवताम्॥
(पादुकासहस्र ३ । ४९)

ये पादुकाकी शक्तिमत्ता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'अप्सराएँ स्वर्गमें अव्याहत सौभाग्य प्राप्त करनेकी इच्छासे कल्पवृक्षके पुष्प समर्पित कर श्रीरङ्गेश्वरकी पादुकाकी अभ्यर्चना करती हैं।'

तवैव रङ्गेश्वरपादरक्षे
सौभाग्यमव्याहतमाप्तुकामाः।
सुरद्रुमाणां प्रसवैस्सुजातै-
रभ्यर्चयन्त्यप्सरसो मुहुस्त्वाम्॥
(पादुकासहस्र १२ । ६)

इनके लिये श्रीरङ्गकी दोनों चरण-पादुकाएँ उनकी (भगवान् मुरारिकी) मूर्तिमती दया हैं, जो अमोघ तथा मणिके समान प्रकाशस्वरूपिणी होनेके नाते प्राणियोंकी अविद्यारूपिणी घोर अन्धकारमयी उस रजनीका अपने आलोकमात्रसे नाश कर देती हैं, जिसे सूर्यदेव भी नहीं मिटा सकते। उनकी उक्ति है—

असूर्यभेद्यां रजनीं प्रजाना-
मालोकमात्रेण निवारयन्ती।
अमोघवृत्तिर्मणिपादरक्षे
मुरद्विषो मूर्तिमती दया त्वम्॥
(पादुकासहस्र १५ । ४)

श्रीवेङ्कटनाथने भगवान् श्रीरङ्गेश्वरकी उपासना करते हुए अपने जीवनका अन्तिम समय श्रीरङ्गम्‌में बिताया। वे पृथ्वीपर १०२ वर्षोंतक विराजमान थे। अपना समस्त जीवन भगवद्भक्ति तथा लोकोपकारके लिये ग्रन्थोंकी रचनामें सार्थक कर उन्होंने संवत् १४२६ वि० में वैकुण्ठ प्राप्त किया। वे सदाचारके आदर्श और भगवद्भक्तिके महान् आचार्य थे। निस्संदेह वे वैष्णवरत्न महान् संत थे।

गीताका ज्ञानयोग—२

[श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या]

(स्वामी रामसुखदास)

[गताङ्क पृष्ठ ८२९ से आगे]

साधनावस्थामें जब साधक चिन्मय परमात्मतत्त्वकी ओर अग्रसर होता है, तब उसमें जडताके प्रति आकर्षणसे उत्पन्न होनेवाले दोषों—झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी आदिका अभाव होता चला जाता है। झूठ-कपटादिकी न्यूनता होनेसे अर्थोपार्जनमें बाधा मालूम देती है और गृहस्थादिके पालन-पोषणमें भी कठिनाईका अनुभव होता है, किंतु यह बाधा भी वास्तविक नहीं है।

मनुष्य-शरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है, धनादि पदार्थोंका अर्जन एवं संग्रह करने और उनसे सुख भोगनेके लिये नहीं। इसलिये यदि झूठ, कपट आदिके परित्यागसे अर्थादिकी प्राप्ति न भी हो तो बाधा कैसी? यह तो सभी मनुष्य मानते ही हैं कि धनादिकी प्राप्तिमें प्रारब्धकी प्रधानता है। जो वस्तु प्रारब्धानुसार मिलनेवाली है, वह तो अवश्य मिलेगी ही। इस दृष्टिसे भी अर्थोपार्जनामें बाधा पड़नेकी आशङ्का निर्मूल है। वर्तमानकालके कर्मोंसे भी धनादिकी प्राप्ति मानी जाय, तब भी बाधा नहीं दीखती; क्योंकि वर्तमान समयमें कर्म करनेकी मनाही है ही नहीं। वस्तुतः झूठ-कपटादिसे प्राप्त होती हुई दीखनेवाली वस्तुएँ भी प्रारब्धानुसार मिलनेवाली ही थीं, तभी तो मिलती हैं। न मिलनेवाली वस्तुएँ नाना प्रकारके उद्योग और झूठ-कपटादिके व्यवहारसे भी नहीं मिलतीं। इसका अकाट्य प्रमाण सबके सामने प्रत्यक्ष है कि झूठ, कपट, चोरी, डाका आदि कर्म करनेवाले सभी व्यक्ति धनी देखनेमें नहीं आते; प्रत्युत उनमेंसे अधिकांश महान् दुःखी दीख पड़ते हैं। जो सुखी दिखायी देते हैं, वे भी वास्तवमें दुःखी हैं; क्योंकि पाप कमानेके कारण उन्हें मनस्ताप होता ही रहता है। प्रश्न हो सकता है कि 'मनुष्य झूठ-कपट-चोरी-जैसे दुराचरणका आश्रय क्यों लेता है'? इसका उत्तर यह है कि साधकके अन्तःकरणमें धनादि पदार्थोंका महत्त्व होता है; उनमें सुख-बुद्धि करने तथा जड-वस्तुओं (शरीरादि) के साथ तादात्म्य होनेसे ही वह झूठ, कपट, चोरी आदिका आश्रय लेता है। परिणाम-स्वरूप वह अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगता रहता है।

दुःखोंके आत्यन्तिक अभाव और परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना साधकका सुनिश्चित लक्ष्य होना चाहिये। और इस दिशामें अग्रसर होनेके लिये उसे झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी आदि अवगुणोंको हृदयसे अविलम्ब त्याग देना चाहिये। उसका वास्तविक उद्देश्य है—'परमात्माकी ही प्राप्ति करना।' उसे यह समझ लेना चाहिये। जैसे-जैसे साधकके अन्तःकरणमें चिन्मय परमात्मतत्त्वका महत्त्व बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे उसके झूठ-कपटादि दोष स्वतः ही कम होते चले जायँगे और अन्तमें इनका सर्वथा अभाव होनेपर शुद्ध परमात्मतत्त्व ही रह जायगा।

परमात्माको ही प्राप्त करना है—ऐसा अपना वास्तविक लक्ष्य न होनेके कारण ही साधकको पारमार्थिक साधनोंके अनुष्ठानमें अधिक समय लग जाता है। फलस्वरूप गार्हस्थ्य आदि सांसारिक व्यवहारोंमें बाधा आनेकी आशङ्का होती है। परंतु वास्तविक लक्ष्यको पहचाननेपर साधक पारमार्थिक साधनोंका अनुष्ठान तो करता ही है, साथ ही जब वह अपने गृहस्थी आदिके

सांसारिक कार्योंको केवल कर्तव्य-बुद्धिसे करता है, तब उसके कार्यमें किसी प्रकारकी बाधाकी कोई सम्भावना नहीं रह जाती।

हाँ! ज्ञानमार्ग (जिसका वर्णन अठारहवें अध्यायके ४९वें श्लोकसे ५५वें श्लोकतक हुआ है)के जिस साधककी प्रवृत्ति ध्यानयोगके द्वारा तत्त्वप्राप्तिकी ओर है, उसको ध्यानादिमें अधिक समय लगाना पड़ता है। इसलिये उसे संसारका कार्य—व्यवहार करनेका समय कम मिलता है। फिर भी वास्तविक लक्ष्यके प्रति अन्तःकरणमें जागृति होनेके कारण उसकी जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी आवश्यकताएँ शीघ्र पूरी हो जाती हैं। कोई माने या न माने, जाने या न जाने, यह एक नियम है कि सच्चे हृदयसे पारमार्थिक पथपर अग्रसर होनेवाले साधककी परमात्मा, संत-महात्मा, गृहस्थ और मित्र ही नहीं, शत्रुतक भी—सभी सहायता करते हैं। अतः उसके व्यावहारिक कार्योंमें किसी प्रकारकी बाधा आनेका प्रश्न ही नहीं उठता। यदि सांसारिक अभाव होंगे तो भी उसे खटकेंगे नहीं; क्योंकि उसका लक्ष्य ऊँचा है—परमात्माकी प्राप्तिका है; अतएव अभाव भी उसके लिये तपस्या-स्वरूप हो जायँगे। ज्ञानान्तरकालमें तो ध्यानादि साधनोंका भी आग्रह नहीं रहता, इसलिये व्यावहारिक कार्योंके लिये समय कम मिलेगा, ऐसा प्रश्न भी नहीं उठता।

इसके अतिरिक्त गीताके अठारहवें अध्यायके १३वें श्लोकसे ३९वें श्लोकतक वर्णित विवेकजन्य साधनोंका अनुसरण करनेवाले साधकको भी साधनावस्थामें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुँचती; क्योंकि वे ज्ञानमार्गी साधक शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूपी क्षेत्रोंसे होनेवाले कर्मोंको उस-उस क्षेत्रमें हुआ मानते हैं एवं स्वयंको कर्मोंसे असम्बद्ध, निर्लिप्त और पृथक् अनुभव करते हैं। ऐसी स्थितिको प्राप्त साधक व्यावहारिक कार्योंको सुचारुरूपसे क्यों नहीं करेंगे?

साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें साधकको जो बाधाएँ प्रतीत होती हैं, उनके विषयमें वह ऐसा सोचता है कि ये साधना करनेसे अथवा साधना करनेके फलस्वरूप उसके असंतुष्ट कुटुम्बीजनोंके कारण ही हैं। किंतु वास्तवमें वे बाधाएँ स्वयंकी दुर्बल आन्तरिक शक्तिके कारण ही होती हैं। तात्पर्य यह है कि उसकी बाधाओंमें भोगासक्ति, आलस्य, प्रमाद और शरीर, इन्द्रिय आदिमें सुख-बुद्धि ही हेतु हैं। यदि साधक शरीर और इन्द्रियोंका संयम तथा व्यवहारमें कर्तव्य-बुद्धिसे तत्परता और उत्साह रखे तो उसके मार्गमें किसी प्रकारकी भी बाधाएँ नहीं आतीं। ऐसा संयमी और उत्साही साधक अपने मार्गमें निरन्तर अग्रसर होता रहता है और अन्तमें उसे नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका बोध बहुत शीघ्र और सुगमतासे हो जाता है।

'इति अभिधीयते'—अर्थात् ऐसे स्वरूपवाला कहा जाता है।' जिस किसी वस्तुके रूप, रंग और आकारादिका शब्दोंद्वारा भान होता है, उस वस्तुका **'इति अभिधीयते'**—पदोंसे निर्देश किया जाता है। जैसे 'घड़ी' कहते ही घड़ीके रूप, रंग और आकारादिका भान होता है, वैसे ही 'क्षेत्र' कहते ही क्षेत्रके रूप, रंग और आकारादिका आभास होता है। अतः **'इति अभिधीयते'**—ये पद 'क्षेत्र'के लिये प्रयुक्त हुए हैं। किंतु 'क्षेत्रज्ञ' कहते ही किसी भी प्रकारके रूप, रंग और आकारादिका भान नहीं होता, इसलिये उसका इन पदोंसे निर्देश नहीं किया गया।

'तद्विदः'—उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन।

यहाँ यह पद क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपका यथार्थ अनुभव करनेवाले ज्ञानीजनोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। उनके किये हुए निरूपणमें किसी त्रुटि या शङ्काकी सम्भावना ही नहीं है; क्योंकि वह तो यथार्थ और अनुभवसिद्ध ही है। गीतामें इन ज्ञानीजनोंकी बड़ी महिमा है।

दूसरे अध्यायके १६वें श्लोकमें भी कहा गया है कि ''तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा ऐसा अनुभव किया गया है कि असत् अर्थात् 'क्षेत्र'की तो सत्ता ही नहीं है, एवं सत् अर्थात् अविनाशीस्वरूप 'क्षेत्रज्ञ' सदा ही रहता है। और जो सदा रहता है, उसका कभी अभाव ही नहीं हो सकता।'' इसलिये ज्ञानीजनोंका अनुभव ही यथार्थ अनुभव माना गया है।

चौथे अध्यायके ३४वें श्लोकमें 'तत्त्वदर्शिनः', तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'आचार्योपासनम्' और सत्रहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'प्राज्ञ०'—ये पद इन्हीं ज्ञानीजनोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

'एतत् (क्षेत्रम्) यः वेत्ति तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः–इस 'क्षेत्र'को जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहते हैं।'

यह शरीररूपी क्षेत्र सर्वसाधारणद्वारा स्वतः ही प्रत्यक्ष जाननेमें आता है और जो स्वयं इस शरीरको दृश्यरूपसे जानता है, वह शरीरी क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) ही है।

इस शरीरका नाश होनेके पश्चात् मेरी सत्ता रहेगी अर्थात् मैं स्वर्ग, नरक या चौरासी लाख योनियोंमें कहीं रहूँगा, प्रायः मनुष्यमात्रमें ऐसा ज्ञान रहता ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी मनुष्योंमें जड (शरीर) और चेतन (आत्मा)का विवेक स्वतःसिद्ध है। परंतु यह विवेक स्पष्ट नहीं है। जैसे आकाशमें घनघोर बादलोंके छा जानेसे घोर अन्धकार हो जाता है, किंतु उसमें भी कभी-कभी बिजलीके चमकनेसे प्रकाशकी एक आभा विकीर्ण होती है और पुनः वही घोर अन्धकार छा जाता है, वैसे ही साधारण मनुष्योंको भी विचार करनेपर तो शरीर और आत्माकी पृथक्ताका आभास होता है, परंतु अन्य समयमें सामान्य स्थिति होनेपर पुनः शरीरके साथ एकता ही दीखती है—यही विवेकका अस्पष्ट होना है। शरीरके साथ जितने अंशों या मात्राओंमें सम्बन्ध घनिष्ठ माना जाता है, उतने ही अंशोंमें यह विवेककी अस्पष्टता बनी रहती है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका पृथक्ता-सम्बन्धी विवेक पूर्णतः जाग्रत् न होनेके कारण ही बोध (तत्त्वज्ञान) नहीं हो पाता, इसी बातको भगवान्‌ने **'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते** (गीता १२ । ५) —देहाभिमानियोंद्वारा अव्यक्त-विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है' इन पदोंसे व्यक्त किया है।

'यः' पद यहाँ जीवात्मा (क्षेत्रज्ञ)का वाचक है और **'वेत्ति'** पदसे जीवात्मा-विषयक अस्पष्ट विवेकको व्यक्त किया गया है।

'तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः' का अर्थ हुआ—'क्षेत्रको स्पष्टरूपसे जाननेवाला क्षेत्रज्ञ।' 'क्षेत्र'के साथ जबतक यत्किंचित् भी सम्बन्ध रहता है, तबतक उसकी संज्ञा 'क्षेत्रज्ञ' ही है। वस्तुतः क्षेत्रज्ञ कोई स्वतन्त्र संज्ञा नहीं है। अतः क्षेत्रके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद होनेपर उसकी संज्ञा 'क्षेत्रज्ञ' नहीं रहती।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, शरीर-शरीरी और जड-चेतनका विवेचन यहाँ **'एतत् (क्षेत्रम्) यः वेत्ति'**—इन पदोंसे किया गया है।

च=और।

भारत=भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन!

'भारत' सम्बोधनसे भगवान् अर्जुनका ध्यान उसके वंशके प्रभावकी ओर आकर्षित करते हैं। यह पद अर्जुनको इस बातका स्मरण करानेके लिये कि उसके वंशमें भरतादि अनेक महान् प्रभावशाली पुरुष हुए हैं, प्रयुक्त किया गया है।

'सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञम् अपि मां विद्धि—सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान।'

जैसे शरीरकी संसारके साथ स्वाभाविक एकता है, परंतु यह जीव उसको संसारसे अलग करके उसके साथ ही अपनी एकता मान लेता है, वैसे ही परमात्माके साथ क्षेत्रज्ञकी स्वाभाविक एकता होते हुए भी शरीरके साथ एकता माननेसे यह अपनेको परमात्मासे अलग मानता है । शरीरको संसारसे अलग मानना और परमात्मासे अपनेको अलग मानना—दोनों ही कल्पित मान्यताएँ हैं। अतः भगवान् यहाँ **'विद्धि'** पदसे आज्ञा देते हैं कि 'क्षेत्रज्ञ मेरे साथ एक है, ऐसा जान।' साधारणतया **'माम्'** पद व्यक्तस्वरूपका ही द्योतक हुआ करता है, किंतु यहाँ यह पद विशेषरूपसे निर्गुण (अव्यक्त) स्वरूपका भान करानेके लिये प्रयुक्त हुआ है । फिर भी इस पदसे परमात्माके समग्ररूपका ही अर्थ लेना चाहिये; क्योंकि बारहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान् **(ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।) 'माम्'** पदसे यही बताते हैं कि 'निर्गुण उपासक मुझे ही प्राप्त होते हैं।' वहाँ भी भाव यही है कि साधकों-की दृष्टिसे साधनामें भेद हो सकता है, किंतु प्राप्तव्य तत्त्व एक ही है । अर्जुनके रथके घोड़ोंकी लगाम हाथोंमें लिये और व्यक्त स्वरूपमें विराजित भगवान् श्रीकृष्ण इन पदोंसे यही अभिव्यक्त कर रहे हैं कि "सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें मैं ही (परमात्मा) 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् अव्यक्तरूपसे व्यापक हूँ।" निष्कर्ष यह है कि व्यक्त-अव्यक्त और सगुण-निर्गुण एक ही तत्त्व हैं। इसी परमात्मतत्त्वका वर्णन आगे १२वें श्लोकसे १७वें श्लोकतक 'ज्ञेय'के नामसे किया गया है । १२वें श्लोकमें परमात्माके निर्गुणस्वरूपका, १३वेंमें परमात्माके सगुण निराकारस्वरूपका, १४वेंमें परमात्माके सगुण-निर्गुणस्वरूपकी एकताका, १५वेंमें परमात्माके समग्ररूपका और १६वेंमें **प्रभविष्णु** (ब्रह्मा), **भूतभर्तृ** (विष्णु) और **ग्रसिष्णु** (महेश) पदोंसे परमात्माके सर्वव्यापी स्वरूपका उल्लेख किया गया है। सूर्यभगवान्, गणेशभगवान् और देवी भगवती (शक्ति)-को भी इस श्लोकमें प्रयुक्त **'ज्ञेयम्'** पदके अन्तर्गत मान लेना चाहिये । आगे १७वें श्लोकमें परमात्माके ज्योतिःस्वरूपका वर्णन हुआ है । तात्पर्य यह है कि ज्ञेय-तत्त्व अर्थात् परमात्मतत्त्व ही सब कुछ है और यहाँ **'माम्'** पदसे उसकी ओर लक्ष्य किया गया है ।

महात्माओंद्वारा अनुभव किया गया है—**'वासुदेवः सर्वमिति'** (गीता ७ । १९) अर्थात् 'जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम आदि पृथक्-पृथक् न होकर सब कुछ एक वासुदेव अथवा परमात्म-तत्त्व ही है ।'—इसका अनुभव ही वास्तविक ज्ञान है । जैसे संसारके सम्मुख होनेपर परमात्मासे विमुखता और संसारमें 'सत्यता' दिखायी देती है, वैसे ही परमात्माके सम्मुख होनेपर संसारका अभाव और सर्वत्र परमात्माका होना दिखायी देता है अर्थात् ऐसा अनुभव होता है कि जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम आदि सभी पदार्थ एक परमात्म-स्वरूप ही हैं । यद्यपि एक नास्तिक व्यक्तिके समस्त कार्य उसी परमात्माकी सत्तासे ही होते हैं, फिर भी उसे परमात्माकी सत्ता दिखायी नहीं देती, वैसे ही आस्तिक मनुष्यको भी परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव होनेपर जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम आदि पदार्थों-की स्वतन्त्र सत्ता दिखायी न देकर, केवल एक सच्चिदा-नन्दघन परमात्मा ही पृथक्-पृथक् रूपोंसे दिखायी देते हैं । जैसे स्वर्णके सभी आभूषणोंमें सोनेके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, एक सोना ही अनेक रूपोंसे दिखायी देता है, वैसे ही जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम आदि प्रकृतिके सभी कार्य अथवा तत्तद्रूपोंमें बनी हुई प्रकृति परमात्मा ही होनेके कारण परमात्मासे पृथक् है ही नहीं; एक परमात्मा ही अनेक रूपोंमें दिखायी देते हैं । इस प्रकार यह जाननेके बाद कि 'अनेक रूपोंमें एक परमात्मतत्त्व (माम्) ही है', कुछ और जानना बाकी नहीं रह जाता—**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते** । (गीता ७ । २) अर्थात् ज्ञातज्ञातव्य हो जाता है । इन पदोंसे भगवान् सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे उस **'माम्'** (परमात्मतत्त्व) को ही जाननेकी बात कह रहे हैं ।

स्थूल भौतिक पदार्थोंका द्रष्टा इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंका द्रष्टा मन, मनका द्रष्टा बुद्धि और बुद्धिका द्रष्टा वह स्वयं (क्षेत्रज्ञ) है। सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाली क्षेत्रज्ञोंकी भिन्नता जिस परमात्मतत्त्वके प्रकाशमें प्रकाशित होती है, उस परमात्मतत्त्वका ही वर्णन यहाँ **'माम्'** पदसे हुआ है। १२वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें **'अक्षरमव्यक्तम्'** आदि पदोंसे भी इसी **'माम्'**का उल्लेख हुआ है।

शरीर आदि क्षर हैं, निर्देश किये जा सकते हैं, व्यक्त हैं, एकदेशीय हैं, मन-बुद्धिसे इनका चिन्तन हो सकता है, सदा एकरस रहनेवाले नहीं हैं, चल हैं और अनित्य हैं; किंतु **'माम्'** (परमात्मतत्त्व)का क्षरण नहीं होता, उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। वह अव्यक्त है, सर्वव्यापी है, मन-बुद्धिसे अत्यन्त परे है, सदा एकरस रहनेसे 'कूटस्थ' है, 'अचल' है और 'नित्य' है। इसी **'माम्'** पदके लिये भगवती श्रुति कहती है—**'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।** (केनोपनिषद् १। ६) अर्थात् उसे मन (अन्तःकरण) के द्वारा नहीं जाना जा सकता, किंतु जिससे मन (बुद्धि) जाना जाता है, वह ब्रह्म (माम्) है।' यहाँ भगवान् इन पदोंसे इसी **'माम्'** को (जो सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे अवस्थित है) जाननेके लिये कह रहे हैं।

ज्ञानमार्गमें जानना ही मुख्य है। क्षेत्रज्ञ जैसे-जैसे क्षेत्र (जड)को अपनेसे पृथक् जानता है एवं सर्वव्यापी परमात्माके साथ अपने स्वरूपकी अभिन्नताका अनुभव करता है, वैसे-वैसे ही अव्यक्तकी उपासनामें तीव्रता बढ़ती जाती है और अन्तमें क्षेत्रसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर केवल परमात्मतत्त्वके साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है।

इन पदोंसे एक सामान्य अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि "भगवान्ने 'क्षेत्रज्ञ' शब्दसे अपने साधर्म्यका वर्णन किया है। जैसे समष्टिमें परमात्मस्वरूप सर्वव्यापक है, वही सम्पूर्ण संसारको सत्ता-स्फूर्ति देते हुए भी सबसे निर्लिप्त है; वैसे ही व्यष्टि-शरीरमें क्षेत्रज्ञ व्यापक है एवं शरीरके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको सत्ता देते हुए भी वह सबसे निर्लिप्त रहता है। अतः भगवान् कहते हैं कि 'क्षेत्रज्ञ मेरा ही सहधर्मी है, मेरा ही अंश है।' किंतु वास्तवमें तो इन पदोंका अर्थ यही है कि 'क्षेत्रज्ञ और परमात्मा एक ही हैं।'

शास्त्रोंमें प्रकृति, जीव और परमात्मा—तीनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन आता है, किंतु यहाँ **'अपि'** पदसे भगवान् एक विलक्षण भावकी ओर संकेत करते हैं और वह यह है कि 'शास्त्रोंमें परमात्माके जिस सर्वव्यापक स्वरूपका वर्णन हुआ है, वह तो मैं हूँ ही; साथ ही सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञरूपसे रहनेवाला भी मैं ही हूँ।' क्षेत्रोंकी उपाधिके कारण वे क्षेत्रज्ञरूपसे पृथक्-पृथक् दीखते हैं; किंतु हैं वास्तवमें एक ही परमात्मा! यहाँ इन पदोंमें यही भाव है कि 'क्षेत्रज्ञरूपसे मैं ही हूँ, ऐसा जानकर मेरे साथ अभिन्नताका अनुभव करो।'

मनुष्योंकी प्रायः यह समझ रहती है कि शरीर मैं हूँ और शरीर मेरा है। इसी कारण शरीरके साथ उनका माना हुआ सम्बन्ध घनिष्ठ प्रतीत होता है। ऐसी स्थितिमें भी वास्तवमें वे शरीरसे तो पृथक् ही होते हैं; क्योंकि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि प्रकृतिके कार्य हैं एवं वे स्वयं (जीवात्मा) परमात्माका अंश या स्वरूप हैं, इसलिये शरीरादिसे वह सर्वथा भिन्न ही हैं। शरीरादि वास्तवमें जीवके स्वरूप नहीं हैं। जीव इनका नहीं है; ये जीवके अपने नहीं हैं और जीवके लिये भी नहीं हैं; किंतु उनके साथ तादात्म्य होनेके कारण वह भूलसे जीवको अपना स्वरूप मान लेता है या अपनेको उनका मान लेता है; उन्हें अपना मान लेता है या अपने लिये मान लेता है। यही कारण है कि इसे उनके साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता

है। इस मूलके परिणामस्वरूप जीव शरीरमें अहंता-ममता करके परमात्माको अपार, असीम, सर्वव्यापक मानता हुआ भी अपनेको परमात्मासे पृथक् अनुभव करता है। यहाँ इन पदोंसे भगवान् इस भूलको मिटानेके लिये सावधान कर रहे हैं कि "शरीरादिका द्रष्टा 'क्षेत्रज्ञ', जो कि क्षेत्रमें अहंता-ममता करके अपनेको मुझसे पृथक् अनुभव कर रहा है, वह मुझसे पृथक् नहीं है; अपितु उस रूपसे भी मैं ही हूँ।"

यह एक नियम है कि जड पदार्थोंका तात्त्विक ज्ञान तभी होता है, जब उनके साथ तादात्म्य न रखकर सर्वथा भिन्नताका अनुभव किया जाय। तात्पर्य यह है कि संसारसे रागरहित होकर ही संसारके वास्तविक स्वरूपको जाना जा सकता है; किंतु परमात्माका ज्ञान प्राप्त करनेमें इससे सर्वथा विपरीत नियम है। उनका वास्तविक ज्ञान उनसे अभिन्न होनेसे ही होता है; क्योंकि वे सर्वव्यापक हैं, इसलिये उनसे भिन्न रहकर उन्हें कोई कैसे जान सकता है? यहाँ इन पदोंसे भगवान् परमात्माका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करानेके लिये क्षेत्रज्ञके साथ अपनी अभिन्नतापर बल दे रहे हैं। इस अभिन्नताको दृढ़तासे जाननेपर परमात्माका वास्तविक ज्ञान हो जाता है।

क्षेत्रज्ञका क्षेत्रके साथ केवल मूढ़तावश स्थापित किया गया सम्बन्ध है। वास्तवमें क्षेत्र (जड) और क्षेत्रज्ञ (चेतन) स्वतः दोनों पृथक्-पृथक् हैं। क्षेत्रज्ञने क्षेत्रके साथ एकरूपता मान रखी है। उसी एक-रूपताके कारण यह शरीरादिको 'मैं', 'मेरा' मानता है। इस 'मैं', 'मेरे'को मिटानेके लिये ज्ञानकी साधना बतायी गयी है। ज्ञानके साधन-समुदायमें भगवान्ने सर्वप्रथम शरीरादि (क्षेत्रों)को 'इदंता'से देखनेके लिये और फिर अपने साथ अभिन्नताका अनुभव करनेके लिये कहा है। तात्पर्य यह है कि यह जीवात्मा क्षेत्रको 'इदंता'से पृथक् देखकर (दृश्यरूपसे जैसे सांसारिक मकान आदि पदार्थोंको अपनेसे अलग देखता है, वैसे ही शरीरादिको भी उसी दृष्टिसे देखकर) परमात्माके सम्मुख होते ही क्षेत्रसे सर्वथा विमुख हो जाता है और फिर इसे नित्यप्राप्त परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव होता है। नित्यप्राप्तमें अप्राप्तिकी भावना उतने अंशोंमें माननी चाहिये, जितने अंशोंमें क्षेत्रके साथ (दृश्यादिके साथ) मूढ़तावश एकरूपताकी मान्यता है। मानी हुई वस्तु वास्तविक नहीं होती, यह नियम है। मान्यताको मान्यता न मानकर यदि उसे वास्तविक जान लिया जायगा तो मान्यता भी वास्तविकता ही दिखायी देगी। निष्कर्ष यह है कि केवल मान्यताकी दृढ़तासे ही 'यही मैं हूँ'—ऐसी प्रतीति होती है। यहीं साधक भूल करता है। जैसा ऊपर कहा गया है कि मान्यता वास्तविक वस्तु-स्थिति नहीं होती; किंतु जबतक इसको छोड़ा नहीं जायगा, तबतक यह मिटेगी कैसे? मान्यता केवल मान्यता ही है—ऐसा जानते ही अथवा वास्तविकताको जानते ही यह नष्ट हो जाती है। तत्त्वका बोध होनेपर तो मान्यता टिक ही नहीं सकती। भगवान् यहाँ इन पदोंसे इस मान्यताको मिटाने और साधकको वास्तविकताका परिचय करानेके लिये ही कहते हैं कि 'सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञरूपसे मैं ही हूँ।' अर्थात् क्षेत्रज्ञकी क्षेत्रके साथ एकरूपताकी मान्यता केवल मान्यता ही है, वस्तुतः तो क्षेत्रज्ञकी मुझसे अभिन्नता है। अतः साधकको अपने वास्तविक स्वरूपको जाननेकी ओर लक्ष्य करना चाहिये।

ध्यान देनेकी बात है कि जैसे दृश्यके अन्तर्गत दृष्टि नहीं आती, किंतु दृष्टिके अन्तर्गत सभी दृश्य आ जाते हैं, वैसे ही मनके अन्तर्गत नेत्र और बुद्धिके अन्तर्गत मन आ जाता है। बुद्धि भी अपने अधिपति 'अहम्'के अन्तर्गत है और बुद्धि, मन, इन्द्रियों और शरीरको 'अहम्' अपना मानता है। 'मैं इनका स्वामी हूँ, ये मेरी हैं अर्थात् इनपर मेरा आधिपत्य है।'—यह मेरापन 'अहम्'के अन्तर्गत दीखता है। प्रत्येक व्यक्तिमें 'अहम्'-

की भिन्न-भिन्न प्रतीति होती है। ये भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले 'अहम्' भी एक सामान्य ज्ञानके अन्तर्गत 'मैं', 'तू', 'यह', 'वह'के रूपमें दृश्य ही हैं; किंतु ज्ञातृत्व (ज्ञातापन)-धर्मरहित यह सामान्य ज्ञान किसीके अन्तर्गत दृश्य नहीं है—अर्थात् यह सबसे महान् है। यह सबका प्रकाशक होते हुए भी स्वयं प्रकाशस्वरूप है। यहाँ इन पदोंसे भगवान् 'क्षेत्रज्ञ'के रूपमें उस प्रकाशस्वरूपका वर्णन करते हैं। तात्पर्य यह है कि क्षेत्रज्ञ उस प्रकाशस्वरूपसे अपनी अभिन्नताका अनुभव करे; क्योंकि यह स्वयं भी प्रकाशस्वरूप ही है।

जैसे अपार समुद्रके तटपर खड़ा हुआ मनुष्य पृथ्वीकी ओर देखे तो उसे जंगल, पहाड़, भूमि आदि दिखायी देते हैं और यदि वह अपनी दृष्टि पृथ्वीसे घुमाकर समुद्रकी ही ओर कर ले तो फिर उसे केवल जल-ही-जल दिखायी देता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ (जीव) परमात्मा और संसारके बीचमें स्थित है (१५वाँ अ०)। जब वह क्षेत्रकी ओर देखता है, तब उसे क्षेत्रके रूप, रंग, आकार आदि ही दिखायी देते हैं और उसकी संज्ञा 'क्षेत्रज्ञ' होती है; किंतु जब वह क्षेत्रसे विमुख होकर अपनी दृष्टि सर्वव्यापक परमात्माकी ओर कर लेता है, तब उसकी दृष्टिमें अपार असीम परमात्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। तत्काल ही उसे तत्त्वसे अभिन्नताका अनुभव हो जाता है; क्योंकि स्वरूपसे तो उसकी अभिन्नता है ही। यहाँ इन पदोंसे भगवान् 'क्षेत्रज्ञ'को अपनी दृष्टि सर्वव्यापक परमात्मा (जो क्षेत्रज्ञरूप ही है) की ओर करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि क्षेत्रज्ञको परमात्माके साथ अभिन्नताका बोध हो जाय।

सूर्यका प्रकाश जैसे पृथ्वीपर सामान्यरूपसे सर्वत्र विकीर्ण है, पर पृथ्वीके ही एक भाग-विशेषसे बने दर्पणमें उसकी निर्मलताके कारण वह विशेषरूपसे प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्वव्यापक परमात्माका प्रकाश प्रकृतिके कार्य—शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें सर्वत्र परिपूर्ण होनेपर भी प्रकृतिके एक भाग अन्तःकरणमें उसकी निर्मलताके कारण विशेषरूपसे प्रतिबिम्बित होता है। वह प्रत्यक्ष दीखनेवाला प्रकाश जब अपने सामान्य प्रकाशस्वरूपको अविवेकसे अन्तःकरणमें स्थित हुआ जानकर एकदेशीय मान लेता है और अन्तःकरण-सहित शरीरको 'मैं', 'मेरा' मान लेता है, तब इस मान्यताके कारण ही वह 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है। यदि इस क्षेत्रज्ञकी दृष्टि सम्पूर्ण क्षेत्रोंके प्रकाशक सामान्य प्रकाश-स्वरूपकी ओर हो जाय तो फिर अविवेकसे माने हुए 'अहम्'का सर्वथा अभाव होकर एक सामान्य प्रकाश ही रह जायगा। यहाँ इन पदोंसे भगवान् क्षेत्रज्ञ (एकदेशीय प्रकाश) को सामान्य प्रकाशस्वरूप (परमात्मा)की ओर दृष्टि करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं। ऐसी दृष्टि होनेसे परमात्माके साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है अर्थात् वह अपने ही सामान्यस्वरूपसे अभिन्नताका अनुभव करता है।

'विद्धि' पद यहाँ 'जानने'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यह 'जानना' व्यक्तकी उपासना नहीं, अपितु अव्यक्तकी उपासना है। 'जानना' दो अर्थोंमें आता है—(१) जो सर्वसाधारणके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे स्वतः जाननेमें आता है। इसे भगवान्ने इसी अध्यायके पहले श्लोकमें शरीरादि (क्षेत्र) से अपनेको 'इदम्' अर्थात् पृथक् जाननेके लिये 'वेत्ति' पदसे कहा है और (२) जो सूक्ष्म होनेके कारण स्वतः सर्वसाधारणके जाननेमें तो नहीं आता, किंतु जो जाना जा सकता है, जिसे अवश्य ही जानना चाहिये एवं जिसे जाननेके बाद और कुछ जानना बाकी नहीं रहता (गीता ७।२)। भगवान् यहाँ 'विद्धि' पदसे सर्वव्यापक परमात्मा (जो क्षेत्रज्ञरूपसे सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें स्थित है) के साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करनेको ही 'जानना चाहिये' कह रहे हैं।

साधनकालमें पहले तो मानना होता है और फिर माने हुएपर दृढ़तापूर्वक स्थिर रहनेसे तत्त्वरूपसे जानना होता है। अतः साधनावस्थाके आरम्भमें साधकको चाहिये कि शरीरके साथ मेरी भिन्नता और सर्वव्यापक

परमात्माके साथ मेरी अभिन्नता है—ऐसा माने और अपनी इस मान्यतापर दृढ़तापूर्वक स्थिर रहे। इस प्रकार दृढ़ रहनेसे शरीरादि (क्षेत्र)से माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है; क्योंकि वास्तवमें तो इनसे कभी सम्बन्ध रहा ही नहीं, है भी नहीं और हो सकता भी नहीं। ऐसी दृढ़ताके कारण परमात्मासे अपनी अभिन्नताका बोध हो जाता है; क्योंकि परमात्मासे पहलेसे ही अभिन्नता थी, भिन्नता तो भूलसे मानी थी। परमात्माके साथ अभिन्नता माननेसे वह भूल मिट जाती है और फिर तत्त्वका बोध हो जाता है।

यत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ज्ञानम्, तत् ज्ञानम्, इति मम मतम्—जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्वसे जानना है, वह मेरे मतमें ज्ञान है।

क्षेत्रको तत्त्वसे जाननेका अभिप्राय यह है कि क्षेत्र जड, विकारी, परिवर्तनशील, क्षयधर्मा और नाशवान् है। क्षेत्रज्ञको तत्त्वसे जानना यह है कि क्षेत्रज्ञ चेतन, निर्विकार, सदा एकरस रहनेवाला, नित्य और अविनाशी है। क्षेत्रको तत्त्वसे जाननेपर क्षेत्रके साथ माना हुआ सम्बन्ध समाप्त हो जाता है और क्षेत्रज्ञको तत्त्वसे जाननेपर क्षेत्रज्ञरूप सर्वव्यापक परमात्माके साथ अभिन्नताका बोध हो जाता है।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

"देहाभिमानके नाश होते ही जीवात्मा परमात्माको तत्त्वसे जान लेता है" अर्थात् सर्वव्यापक परमात्माके साथ उसे अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है। फिर जहाँ-जहाँ उसका मन जाता है वहाँ-वहाँ ही उसकी समाधि होती है, अर्थात् **'वासुदेवः सर्वमिति'** (गीता ७।१९)—सब कुछ वासुदेव (परमात्मा) ही हैं, ऐसा अनुभव होता है।" इसी अनुभवको ही एक कविने इस प्रकार व्यक्त किया है—

ढूँढ़ा सब जहाँ में पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा तो अब पता मेरा नहीं॥

असत्की सत्ताका अत्यन्ताभाव एवं सत्की सत्ताका अनुभव होना ही भगवान्के मतमें यथार्थ ज्ञान है। यहाँ अनुभाव्य और अनुभविता नहीं है, केवल अनुभव है। इस अनुभवको दूसरे शब्दोंमें कहें तो ज्ञानी बिना ज्ञान है अर्थात् ज्ञानका अभिमान करनेवाला—'मैं ज्ञानी हूँ' ऐसा कोई धर्मी नहीं रहता, केवल शुद्ध ज्ञान रहता है। यही यथार्थ ज्ञान है।

उपर्युक्त दो श्लोकोंमें भगवान्ने चार बातोंका वर्णन किया है—१. क्षेत्र, २. क्षेत्रज्ञका स्वरूप, ३. क्षेत्रज्ञकी अपने (सर्वव्यापक परमात्माके) साथ अभिन्नता और ४. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके यथार्थ ज्ञानको अपने मतसे ज्ञान मानना। तात्पर्य यह है कि देहाभिमानके कारण ही अव्यक्तकी उपासनामें अधिकतर क्लेश होता है, जिससे ज्ञानकी साधनाको कठिन मान लिया जाता है। वस्तुतः ज्ञानकी साधना कठिन नहीं है। जो वास्तवमें अपना ही स्वरूप है, उसे ज्यों-का-त्यों जाननेमें कठिनता कैसी? अज्ञानवश शरीरादि, जो अपने स्वरूप नहीं हैं, उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप माननेसे ही कठिनाई होती है। उस कठिनाईको दूर करनेके अभिप्रायसे ही भगवान् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके स्वरूपका विवेचन करके क्षेत्रसे अपनेको 'इदम्' (अर्थात् पृथक्) जानकर क्षेत्रज्ञ (स्वयम्) को सर्वव्यापक परमात्माके साथ अभिन्न अनुभव करनेके लिये कह रहे हैं। भगवान् इसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके यथार्थ ज्ञानको अपने मतमें 'ज्ञान' कहते हैं।

इस प्रकार भगवान्के बताये हुए इस ज्ञानके अनुसार साधना करनेपर साधकको कभी किसी प्रकारकी किंचिन्मात्र भी कठिनाई नहीं होती। हमारे श्रद्धेय गुरु महाराज कहा करते थे कि तेरहवाँ अध्याय 'वेल्जियमका किला'—दुर्भेद्य दुर्ग है, इसमें ठीक-ठीक प्रवेश करनेपर ज्ञानकी साधनामें कोई कठिनाई नहीं होती। (क्रमशः)

प्रार्थना

मेरे अनन्यतम सुहृद् !

निरन्तर तुम मेरे समीप रहते हो, तथापि मैं कभी तुम्हें जान नहीं पाया; अहर्निश तुम मेरे सम्मुख रहते हो, फिर भी मैं कभी तुम्हें निहार नहीं सका; सदासे तुम मेरी सतत सँभाल करते रहे हो, तब भी मैं तुम्हें पहचान नहीं पाया। यह कैसी विडम्बना है! इसे तुम्हारी परम लीला-निपुणता समझूँ कि अपनी चरम अबोधता !!

तुम कैसे अनोखे दानी हो कि अजस्र दान देते रहकर भी सदा अप्रकट रहना ही चाहते हो; अनन्त हित-साधन करते रहकर भी अज्ञात ही रहना चाहते हो; निरन्तर प्रेम-वितरण करते रहकर भी संगोपित ही रहना चाहते हो! तुमसे अगणित उपहार प्राप्त करके भी मैं तुम्हारे प्रति कृतज्ञ नहीं हो सका; तुमसे अमित बार उपकृत होकर भी मैं तुम्हारे सम्मुख नतमस्तक नहीं हो सका; तुम्हारे अनन्त सौहार्दपूर्ण प्रेम-व्यवहारोंका पात्र बनकर भी मैं तुम्हारे चरणोंमें न्यौछावर नहीं हो सका!

तुम्हारे प्रेमका प्रतिदान तो दूर रहा, मैं तो तुमसे अनजाना बना रहा, तुम्हें विस्मृत किये रहा; तुम्हारी उपेक्षा किये रहा। किंतु मेरी नीरसता, उदासीनता एवं प्रेमहीनताका तुमपर तनिक भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा। सदा तुम्हारे रस-समुद्रमें मेरी नीरसताको आत्मसात् करनेके लिये ज्वार आते रहे; सदा तुम्हारे उल्लास-महानदमें मेरी उदासीनताको तिरोहित करनेके लिये उद्वेलन होता रहा; सदा तुम्हारे प्रेम-वारिधर मेरी प्रेमहीनताको आप्लावित कर देनेके लिये अजस्र प्रेमधाराएँ बरसाते रहे!

क्षणार्धके लिये भी जब कभी मैं तुम्हारी ओर उन्मुख हुआ, अपरिमित सौहार्द, अशेष उल्लास तथा अनिर्वचनीय प्रीतिके उपहार लिये तुम मुझे कृतार्थ करनेको तत्पर प्रतीत हुए। बारंबार चिर अभ्यासवश मैं तुम्हें विस्मृत कर देता; पुनः जब-जब मैंने तुम्हारे द्वारपर कृपाके लिये पुकार की, तुम वैसे ही प्रेमातुर बने मुझे अपनानेको तत्पर दिखायी पड़े। मेरी विस्मृति, उपेक्षा तथा विमुखताके फलस्वरूप तुम्हारे प्रेममय स्वरूपमें अकृपाकी क्षीणतम रेखा भी कभी उत्पन्न नहीं हो सकी। तुम्हारे सदृश विलक्षण प्रेमी त्रिभुवनभरमें कहीं दूसरा नहीं! मैं तुम्हारे प्रेममय स्वभावका बखान किन शब्दोंमें करूँ!

—तुम्हारा अपना ही एक अकिंचन

'प्रार्थनाके बिना मैं पागल हो जाऊँगा'

'मुझे रोटी न मिले तो मैं व्याकुल नहीं होता, पर प्रार्थनाके बिना मैं पागल हो जाऊँगा। प्रार्थना भोजनकी अपेक्षा करोड़-गुनी ज्यादा उपयोगी चीज है। खाना भले ही छूट जाय, लेकिन प्रार्थना कभी न छूटनी चाहिये। यदि हम पूरे दिन ईश्वरका चिन्तन किया करें तो बहुत ही अच्छा। पर चूँकि यह सबके लिये सम्भव नहीं। इसीलिये हमें प्रतिदिन कम-से-कम कुछ घंटोंके लिये ईश्वर-स्मरण करना चाहिये।'

''परलोककी बात तो जाने दीजिये, इस लोकके लिये प्रार्थना सुख और शान्ति देनेवाला साधन है। अतएव यदि हमें मनुष्य बनना है तो हमें चाहिये कि हम जीवनको प्रार्थनाद्वारा रसमय और सार्थक बना डालें। इसीलिये मैं आपको सलाह दूँगा कि 'आप प्रार्थनासे भूतकी तरह लिपटे रहें।' मेरे सामने आनेवाले राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा राजनीतिक विकट प्रश्नोंकी गुत्थीके सुलझाव मुझे अपनी बुद्धिकी अपेक्षा अधिक स्पष्टता और शीघ्रतासे प्रार्थनाद्वारा विशुद्ध हुए अन्तः-करणसे मिल जाते हैं।''

—महात्मा गांधी

मनकी महिमा

(लेखक—प्रो० श्रीशिवानन्दजी)

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।'
(ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)

'मन ही मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है ।'

मनकी विचित्र महिमा है । जिसने मनके रहस्यको जान लिया, उसने एक अद्भुत ज्ञान प्राप्त कर लिया । मनके सहारे-के बिना जीवनके किसी भी क्षेत्रमें कोई उपलब्धि सम्भव नहीं होती ।

वास्तवमें मन ही मनुष्य है । यदि मन अच्छा है तो मनुष्य अच्छा है, यदि मन निकृष्ट है तो मनुष्य निकृष्ट है । यदि मन बलवान् है तो मनुष्य बलवान् है, यदि मन निर्बल है तो मनुष्य निर्बल है । यदि मन सुखी है तो मनुष्य सुखी है, यदि मन दुःखी है तो मनुष्य दुःखी है । यदि मन स्वस्थ है तो मनुष्य स्वस्थ है, यदि मन अस्वस्थ है तो मनुष्य अस्वस्थ है । यदि मन पवित्र है तो मनुष्य पवित्र है, यदि मन अपवित्र है तो मनुष्य अपवित्र है ।

मन ही मनुष्यकी समस्त शक्तियोंका केन्द्र है । मनकी सबलता मनुष्यकी सबलता है । मन व्यक्तित्वका दर्पण होता है । व्यक्तित्वका आन्तरिक विकास वास्तवमें मानसिक विकास ही है । मनकी उपेक्षा करना व्यक्तित्वकी उपेक्षा है । मनको सँवारकर ही व्यक्तित्वको सँवारा जा सकता है । मनकी उचित शिक्षा-दीक्षा मनुष्यके सुखी जीवनके लिये परमावश्यक है ।

मनकी गरीबी सबसे बड़ी गरीबी है । भौतिक धनकी गरीबीका सहन करना सरल है, किंतु मनकी गरीबी भयंकर होती है । संसारकी समस्त सुख-सामग्री हस्तगत होनेपर भी मनकी गरीबी मनुष्यको शोचनीय बना देती है ।

किसी भी युद्धमें अस्त्र-शस्त्रकी हार हो जाना एक साधारण घटना है, किंतु मनकी हार मनुष्यको दयनीय बना देती है । मनका ध्वस्त एवं परास्त हो जाना मृत्युकी अपेक्षा कहीं अधिक भयंकर है । 'मनके हारे हार है, मनके जीते जीत ।' यदि मन थक गया तो कोई जड़ी-बूटी उसमें ओज नहीं भर सकती ।

मनकी दासता ही वास्तविक दासता है, मनकी मुक्ति ही मनुष्यकी मुक्ति है । मन ही बन्धन और मोक्षका मूल कारण होता है । यदि मन मुक्त है तो मनुष्य मुक्त है । बाह्य-बन्धन-का कोई महत्त्व नहीं है, यदि मन मुक्त है ।

मन एक शुभ्र वस्त्रकी भाँति होता है । श्वेत वस्त्रको जैसे भी रंगमें डुबा देंगे, उसका वैसा ही रंग हो जायगा । मनको भौतिकतामें डुबानेपर वह भौतिकवादी हो जाता है और अध्यात्ममें निमग्न करनेपर अध्यात्मवादी । मन ही कुपथगामी अथवा सुपथगामी होकर मनुष्यके आचरणके लिये उत्तरदायी होता है ।

मनकी सरलता उसमें सहज प्रसन्नता भर देती है तथा मनकी कुटिलता उसको बोझिल बना देती है । सरल मन सहजयुक्त होता है तथा कुटिल मन उलझनोंमें फँसा रहता है । सरलताका अर्थ है—मन, वचन और कर्मकी एकता । मनकी बालवत् सरलता मनुष्यको प्रभुके समीप ला देती है । सरलता स्वर्गके द्वार खोल देती है । सरल व्यक्ति सत्यनिष्ठ होता है । सत्यके रास्ते सरल होते हैं, स्पष्ट और मनोरम होते हैं । सरल व्यक्ति ही सत्यकी अनुभूति तथा सत्यका साक्षात्कार कर सकता है । सरलता छोड़नेपर विद्वत्ता विष बन जाती है, विद्या कुविद्या हो जाती है । सत्यका अनुसंधाता सरल होता है ।

कभी-कभी कुपथमें फँसकर मन स्वयं ही विषादकी काली चादर ओढ़ लेता है । कोई भी अन्य व्यक्ति आपकी सहायता नहीं कर सकता; आप स्वयं ही अपनी सहायता कर सकते हैं । गुरु भी दीपक ही दरसा सकते हैं; किंतु आप-को स्वयं ही अपनी सहायता करनी पड़ेगी । आपको अपने ही पैरोंसे उठना, चलना और आगे बढ़ना पड़ेगा । आप स्वयं ही अपने श्रेष्ठ मित्र हैं, उद्धारक बन्धु हैं तथा आप स्वयं ही अपने घोर शत्रु हैं—

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।'
(गीता ६ । ५)

'आत्मात्मना न चेत् त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥'

अर्थात् 'आप स्वयं ही अपने बन्धु और शत्रु हैं । यदि आप स्वयं अपनी रक्षा न करेंगे तो अन्य कोई उपाय नहीं है ।' आपका मन ही आपको सुख, शान्ति, शक्ति और सफलता दे सकता है तथा आपका मन ही आपको दुःख, ग्लानि, दुर्बलता और विफलता दे देता है ।

मनका स्वधर्म प्रेम है । प्रेम व्यापक होता है । प्रेमका अर्थ है—संकीर्ण स्वार्थ छोड़कर परोपकाररत होना, त्यागपूर्वक

सेवा करना, अपने आपका बलिदान करना। प्रेम अलौकिक तत्त्व है और मोह उसका भौतिक कुरूप। प्रेम प्रकाश होता है तथा मोह अन्धकार। प्रेम सरस है, मोह नीरस तथा प्रेम अमृत है और मोह विष। प्रेम स्वस्थ होता है और मोह अस्वस्थ।

जब मनमें काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, तब उनके कारण मन रोगी हो जाता है। शरीरके रोगोंकी भाँति मनमें भी भय, चिन्ता आदि रोग होते हैं तथा शारीरिक रोगोंकी भाँति मानसिक रोगोंके निराकरणका भी उपाय होता है। मन स्वयं ही अपना चिकित्सक होता है। मनोविकारोंके निराकरण होनेपर मानसिक रोगोंका निराकरण हो जाता है तथा मन स्वस्थ हो जाता है।

काम अर्थात् भौतिक इच्छा मनोविकारोंमें अग्रणी है। समस्त गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने बारंबार कामका परित्याग करके निष्काम कर्म करनेका उपदेश दिया है।

काम मनको शान्त एवं स्थिर नहीं होने देता। कामकामी कभी शान्तिको प्राप्त नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
(गीता २। ७०)

'जिस प्रकार सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रके प्रति अनेक नदियोंके जल उसको चलायमान न करते हुए उसमें ही समा जाते हैं, उसी प्रकार जिस स्थिर बुद्धियुक्त पुरुषके प्रति सम्पूर्ण भोग किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही उसमें समा जाते हैं, ऐसा पुरुष ही परमशान्तिको प्राप्त करता है, न कि भोगोंकी इच्छाओंसे जकड़ा हुआ कोई कामकामी पुरुष।'

अतएव शान्तिका उपाय बतलाते हुए भगवान् कामनाओंके परित्यागका आदेश देते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्स्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़कर, मोहरहित, अहंकाररहित तथा स्पृहारहित होकर व्यवहार करता है, वह शान्तिको प्राप्त करता है।' अतएव भौतिक इच्छाओं, वस्तुओं एवं व्यक्तियोंके साथ ममत्व तथा अहंभाव छोड़ना ही शान्ति प्राप्त करनेका सूत्र है।

भगवान् आगे कहते हैं कि 'रजोगुणसे समुत्पन्न यह काम ही क्रोधका रूप ले लेता है। यह अग्निकी भाँति भोगोंसे तृप्त नहीं होता। भोगोंके द्वारा कामका शमन नहीं होता है। जिस प्रकार घृतसे अग्निका शमन नहीं होता, बल्कि उसका उद्दीपन होता है, उसी प्रकार भोगोंके द्वारा कामका शमन नहीं होता, बल्कि उसकी वृद्धि होती है। यह कामाग्नि महा-अशन अर्थात् बहुत खाकर भी तृप्त न होनेवाली होती है। वही पापका मूल कारण होती है; अतएव काम मनका परम शत्रु है।' यह सदाशय भगवान्के इस वचनमें निहित है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
(गीता ३। ३७)

भगवान् कामको अग्निके सदृश दुष्पूर, अतर्पणीय, अतएव नित्यवैरीकी संज्ञा देते हैं तथा समस्त साधनासे पूर्व सर्वप्रथम कामरूप शत्रुको नष्ट करनेका आदेश देते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥
(गीता ३। ४१)

अर्थात् सर्वप्रथम तू इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान और विज्ञानके नाशक इस पापप्रेरक कामको निश्चयपूर्वक नष्ट कर दे।' आत्मज्ञानको कामनाशका उपाय बताते हुए भगवान् कहते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(गीता ३। ४३)

अर्थात् 'इस प्रकार बुद्धिसे परे स्थित परम सूक्ष्म तथा सब प्रकार शक्ति-सम्पन्न एवं श्रेष्ठ आत्माको जानकर और अपनेद्वारा अपनेको जीतकर स्वयं ही अपने मनको वशमें करके दुर्जय कामरूप शत्रुको मार दो।'

'कामत्यागस्तपः स्मृतम्।' (भागवत ११। १९। ३७)

अर्थात् "कामनाओंका त्याग 'तप' कहलाता है।"

संसार असार है और इसकी समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं तथा उनका परिग्रह दुःखदायी है। आत्मतत्त्व स्थायी, सत्य तथा अमर है। अतएव आत्मानुभूति एवं भगवत्प्राप्ति जीवके लिये परम शान्तिकारक है। संसारकी भोग्यवस्तुओं-

की क्षयकारक मरीचिकासे मुक्त होनेके लिये एवं परा शान्तिकी उपलब्धिके लिये कामका त्याग परमावश्यक है।

कामके साथ क्रोध जुड़ा हुआ है। 'संसारके विषयोंका चिन्तन करनेवाले व्यक्तिके मनमें उन विषयोंके लिये आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न हो जाती है और कामना-पूर्तिमें विघ्न-बाधा होनेपर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोधसे अविवेक अथवा मूढ़भाव उत्पन्न होता है और मूढ़भावसे स्मृति-विभ्रम हो जाता है तथा स्मृतिभ्रंश हो जानेसे बुद्धिनाश हो जाता है और व्यक्ति श्रेय-साधनसे गिर जाता है।' (गीता २। ६२-६३) इस मनोविज्ञानकी चर्चा करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'मनको वशमें रखनेवाला व्यक्ति इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोग करते हुए भी प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है। (गीता २। ६४)'

सत्पुरुष अपने प्रयत्नमें व्यक्तिगत कामनाओंसे प्रेरित नहीं होता, बल्कि कर्तव्य-भावनासे अनुप्राणित होकर कर्म करता है। वह घृणाके स्थानपर प्रेम तथा क्रोधके स्थानपर क्षमा धारण करता है। क्रोधमें उत्तेजित होनेपर मनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। किसी अन्यायपूर्ण बातपर रोष प्रकट करना और दृढ़तापूर्वक कोई पग उठाना उचित है; किंतु क्रोधावेश तो सदैव हानिकारक एवं पतनकारक होता है।

लोभपूर्ण गृध्र-दृष्टि भी मनको दूषित करती है। लोभ मनुष्यको परिग्रहकी ओर प्रवृत्त करता है। मनको प्रलोभन-जयी होना चाहिये। लोभ-दृष्टि होनेपर अनन्त लाभ भी अल्प ही प्रतीत होता है और मनको संतोष प्राप्त नहीं होता है। जब लोभ मनको पकड़ लेता है, तब लाभ लोभ-शमन करनेके स्थानपर उसे विवृद्ध कर देता है—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई॥' भगवान् यदृच्छालाभसंतुष्ट (जो कुछ लाभ हो जाय उसीमें संतुष्ट रहनेवाले) भक्तकी प्रशंसा करते हैं।

मद मनुष्यके अहंकारसे उत्पन्न होता है और मनको उच्छृङ्खल बना देता है। धन-मद, सत्तामद, प्रभुता-मद तथा मान-मद मनुष्यको उन्मत्त बना देते हैं। मदमत्त व्यक्ति विवेक खो बैठता है और पशुवत् आचरण करने लगता है। मिथ्या अहंभावके उन्मूलनका उपाय बताते हुए भगवान् कहते हैं कि "अहंकार-विमोहित व्यक्ति 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसे मान लेता है;"—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।' (गीता ३। २७) मनुष्य अज्ञानवश अपनेको कर्ता मानकर अहंकार करता है तथा नानाविध दुःख मोल ले लेता है। "नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्॥ (गीता ५। ८)—ज्ञानी सब कुछ करता हुआ भी 'मैं कुछ नहीं करता हूँ'—ऐसा मानता है।"

जो व्यक्ति प्रभु-प्रीत्यर्थ कर्म करता है तथा समस्त कर्मोंका समर्पण प्रभुको कर देता है, वह भी अहंभावसे विमुक्त हो जाता है। 'मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, जो कुछ भी खाता है, जो कुछ पुण्य कार्य करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तप करता है, उस सबको प्रभुके अर्पण करनेपर वह अहंकारविमुक्त होकर कर्म-बन्धनसे भी छूट जाता है (गीता ९। २७-२८)।'

मोहकी गणना भी मनोविकारोंमें ही की जाती है—'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।' (मानस) मोहके कारण ही मनुष्यमें कायरता आती है। मोहग्रस्त व्यक्ति कभी ठीक प्रकारसे कर्तव्यपालन नहीं कर सकता। मोह ही चिन्ता और भयका प्रधान कारण है। मोहका काम, क्रोध, लोभ और मदसे अच्छेद्य सम्बन्ध है। मोहने अर्जुन-जैसे वीरको किंकर्तव्य-विमूढ़ बनाकर उपहासास्पद-सा बना दिया था। मोहाच्छादित व्यक्ति कर्तव्य और अकर्तव्यमें भेद नहीं कर पाता। मोह-पाशसे मुक्त होनेपर ही बुद्धि स्वस्थताको प्राप्त होती है। (गीता २। ५२)

भारतीय मनोवैज्ञानिकोंने मानसिक संतुलनको बिगाड़नेवाले इन मनोविकारोंके उदात्तीकरणका उपाय बताया है—भगवच्छरणागति, प्रभुके प्रति आत्मसमर्पण, प्रभुके प्रति भक्तिभावसे ओत-प्रोत होना तथा सर्वत्र प्रभुका दर्शन करते हुए जनसेवा करना। भगवद्भक्तिमें निमग्न होनेपर काल्पनिक भय और चिन्ताएँ स्वतः विलुप्त हो जाती हैं और मन पूर्णतः स्वस्थ हो जाता है। प्रभु-भक्त नम्र, निरभिमान, मृदु, क्षमाशील, उदार, सहृदय, परोपकारी, सेवापरायण, त्यागी और तपस्वी होता है तथा स्वयं सुखी रहकर संसारमें सर्वत्र सुखका प्रसार करता है। वह प्राणिमात्रको हृदयसे लगाता है और उसका व्यक्तित्व प्रेमसे परिपूर्ण होता है।

मन आपका घर है, जहाँ सुख और शान्तिका खजाना भरा पड़ा है; किंतु राग-द्वेष आदि चोर उसे लूट रहे हैं। प्रेम, क्षमा, सरलता, सेवाभाव, कृतज्ञता, प्रभु-भक्ति मनके रत्न हैं, जिनसे मनमें उजाला रहता है। इन रत्नोंकी रक्षा करना आपका परम कर्तव्य है। यही आपका सच्चा स्वार्थ है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके सोलहवें अध्यायमें मनोविज्ञानके सिद्धान्तोंपर आधारित मानव-धर्मकी विशद व्याख्या की है और दैवी सम्पदा तथा आसुरी सम्पदाका भेद

करते हुए मानो मनके लिये ग्राह्य सुपथ तथा त्याज्य कुपथकी चर्चा की है। समस्त गीता-दर्शन ही मनोविज्ञान एवं आत्मज्ञानका अनुपम ग्रन्थ है। अभय, आन्तरिक स्वच्छता, सात्त्विक दान, इन्द्रिय-दमन, पुण्य कार्य, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, सेवा, शान्ति, अपैशुन (निन्दा न करना), प्राणियोंके प्रति करुणा, असंग, उचित लज्जा, अचापल्य, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह (किसीके प्रति शत्रुभाव न होना), नातिमानिता (अपनेको पूज्य मानकर अभिमान न करना)—ये सब मनको स्वास्थ्य, बल और शान्ति-प्रदान करते हैं। दम्भ, दर्प, अभिमान, काम, क्रोध, घृणा, द्वेष, कठोरवाणी, असत्य, दूसरोंका अपकार करना, क्रूरता, मद, बदला लेनेकी भावना, हिंसा, चोरी, भ्रष्टाचरण, चिन्ता, वासना, विषयभोगरति आदि मनकी शक्तिको नष्ट करते हैं और अशान्ति देते हैं। (गीता १६। १-४) मानसिक विकास, चरित्र-निर्माण तथा सुख एवं शान्तिके लिये विद्योपार्जन तथा ज्ञानार्जनकी अपेक्षा सद्गुणोंका संचय कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

मन चञ्चल है, बलवान् है, उसका निग्रह कैसे सम्भव हो सकता है ? भगवान् उत्तर देते हैं कि 'निस्संदेह मन चञ्चल और दुर्निग्रह है, किंतु अभ्यास (बारंबार प्रयत्न) तथा वैराग्यभावसे मन वशमें आ जाता है, (गीता ६। ३४-३५)। मनको वशमें करके चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाको संयममें रखते हुए ही मनुष्य सबल हो योग-साधन कर पाता है। मनको एकाग्र करनेपर ही योगाभ्यास सम्भव हो पाता है (गीता ६। १२, १४)।

मनकी बिखरती हुई शक्तियोंको समेटकर किसी उचित दिशामें उनका उपयोग करना एक कुशलता है।* मनकी शक्तियाँ निस्सीम होती हैं। अन्तःकरणके प्रतिकूल मिथ्या आचरण करनेसे तथा पापके साथ समझौता करनेसे मन निर्बल होता है। आशा और निराशासे ऊपर उठकर मनके साथ मैत्री स्थापित करके मनमें सद्गुणोंका समावेश करना चाहिये। शुभ विचार एवं कर्ममें रत रहकर निरन्तर अन्धकारसे प्रकाशकी ओर उत्साहपूर्वक बढ़ते हुए हम स्वच्छ मनसे आनन्दस्वरूप प्रभुका दर्शन कर सकते हैं।

प्रमाद, आलस्य और उलझनमें पड़े मनसे कहिये—'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंसे कुछ सीखते हुए साहससे सन्मार्गपर आगे बढ़ो। इसीमें सच्चा कल्याण निहित है।'

गोपी

(रचयिता—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

गोपी की गति-मति को पावै।
जग में जे-जे सती-सिरोमनि तिनहूँ की वह वन्द्य कहावै॥
स्याम-ठगी, रस-रँगी गोपिका संतत महासती-पद पावै।
ताको भाग-सुहाग निरखि सारदहूँ की अति मति चकरावै॥
रहत सदा वह हरि-रस-राती, लोक-बेद सब भाँति भुलावै।
वाके धरम-करम मनमोहन, मोहन तजि कछु ताहि न भावै॥
मोहन ही सब के साँचे पति, तिन में जाकी मति रति पावै।
ताकों जग के झूठे पति में रचिबो-पचिबो कहा सुहावै॥
लौकिक पति में भगवत्-पति ही, तब ही कोऊ सती कहावै।
जाकी भगवत् में ही रति हो, ताकी पटतर सो कस पावै॥
चिन्मयि प्रीति होय चिन्मय में, चिन्मय चित्त-वित्त सो पावै।
चिन्मयि दृष्टि बिना वाकी गति काहू की मति में कब आवै॥
कृपा-लभ्य है यह पावन पद, पुरुशारथ तहँ पहुँच न पावै।
जापै द्रवहिं दयानिधि प्रीतम, सो या प्रीति-पंथ में आवै॥

* मन विविध प्रकारकी कल्पनाएँ करता रहता है। हमें कल्पनाको भी काम, क्रोध, लोभ, मद, मोहसे मुक्त रखना चाहिये। हमारी कल्पना भी प्रेम और करुणासे ओत-प्रोत रहे। यदि मेरे पास अपार धन, प्रभुता, सत्ता और शक्ति हों तो मैं भोगसे दूर रहकर उन सबका उपयोग जनसेवाके लिये करूँगा—यह स्वस्थ कल्पना है।

परमार्थका सबसे बड़ा विघातक—परदोष-दर्शन

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

बाइबिलमें आता है—'जज नॉट—तू किसीका फैसला न कर।'

कौन सही है, कौन गलत ? किसका कसूर है, किसका नहीं—इसका फैसला देनेवाला तू कौन ? किसने कौन काम कब किया, कैसे किया, क्यों किया, उसे करते समय उसका क्या इरादा था ?—इसका तुझे ठीक-ठीक पता कैसे चलेगा ? तू अगर गलत फैसला दे देगा तो उसका दोषी कौन होगा ? इसलिये सीधा रास्ता है—'जज नॉट—किसीका फैसला न कर।'

*　　*　　*

यही कारण है कि ईसाई-धर्ममें जज—न्यायाधीश—फैसला देनेवाले—का पेशा अच्छा नहीं माना जाता।

लगभग तीस वर्ष पहले अमेरिकामें एक शोध की गयी—'भले पड़ोसियोंकी।' उसमें कुछ लोगोंने जज—फैसला देनेवालेके धंधेको बहुत बुरा बताया। एक सीधी-सादी महिलाने तो यहाँतक कह दिया—'मुझे शर्म लगती है कि मेरा बेटा वकील है।' एकने कहा—'वकील और जज पाखण्डी हैं। वे भ्रष्ट धनिकोंके, चोरों, बदमाशों और अपराधियोंके, राजनीतिज्ञोंके भाड़ेके टट्टू हैं।'

किसीने कहा—'वे प्रभुके आदेशके विपरीत ईंटका बदला ईंटसे देना चाहते हैं। वे लोगोंको जेल भेजकर ऊपर उठानेके बजाय नीचे गिराते हैं। वे ईसाके आदेशके विपरीत आचरण करते हैं।............'

मतलब, जजका धंधा भले ही कुछ लोगोंकी दृष्टिमें अच्छा है, ऊँचा है, सम्माननीय है, पर कुछ लोगोंकी दृष्टिमें बुरा है, बहुत बुरा।

*　　*　　*

मुसलमानी शासन-व्यवस्थामें फैसला देनेका काम काजी करता था। उस समय न्यायाधीशका दायित्व काजीके सुपुर्द था। 'काजी' उसे कहा जाता था, जो शराके अनुसार मामलोंका निपटारा करता था, लोगोंके कजिया—झगड़ोंका फैसला देता था, जो निर्णय करता था कि कसूर किसका है, गलती किसकी है, दोष किसका है और उसे क्या दण्ड मिलना चाहिये। इस प्रकार काजी होता था सरकारी अफसर। सरकार उसे तैनात करती थी, तनख्वाह देती थी। सरकारी पुलिस और फौज उसके फैसलोंको अमलमें लानेमें मदद करती थी।

छोटा काजी मुनसिफ, बड़ा काजी चीफ जस्टिस। वकील उसके सहकारी—फैसला करनेके मददगार।

*　　*　　*

काजीके प्रति समाजमें सम्मान था, आदर था, पर साथ ही काजीका काम जनताकी नजरोंमें अच्छा नहीं था।

कारण स्पष्ट था—काजीका फैसला सही भी हो सकता था, गलत भी; उचित भी हो सकता था, अनुचित भी। काजी धोखेमें आ सकता था। काजी डर, भय, प्रलोभन, पक्षपातका भी शिकार बन सकता था।

*　　*　　*

यह बात तो हुई उन लोगोंकी, जो जजके—काजीके—वकालतके पेशेमें काम करते हैं, जिससे उनकी रोजी चलती है। पर जो लोग इस पेशेमें नहीं हैं, फिर भी जो मेरी तरह इस पेशेको शौकिया अपनाये बैठे हैं, उनका हाल मुझसे पूछिये।

आप जज या काजी हैं कि नहीं, मुझे पता नहीं। मैं तो अपनी बात जानता हूँ। वकालतकी एल्-एल्० बी० या एल्-एल्० एम्० परीक्षा, मुंसिफीकी परीक्षा—या ऐसी कोई भी परीक्षा पास किये बिना भी मैं जज—काजी—फैसला देनेवाला हूँ—स्वेच्छाप्रेरित, स्वैच्छिक, स्वतःप्रवृत्त, खुदराजी; किसीने मुझे जज—काजी नियुक्त नहीं किया।

कोई मुझे फैसला देनेके लिये तनख्वाह नहीं देता, 'आनरेरियम' नहीं देता, दक्षिणा या शुकराना नहीं देता, फिर भी मैं फैसला देनेवाला बना बैठा हूँ—आनरेरी—स्वेच्छाप्रेरित।

आप पूछेंगे कि "आखिर मुझे काजी—जज या फैसला देनेवाला बननेका यह शौक क्यों चर्राया? क्या वजह है, क्या कारण है, जो मैंने खुद-ब-खुद यह पेशा अपना रखा है? शहरके अंदेशेसे मैं क्यों दुबला हुआ जा रहा हूँ? घरके लोग हों या बाहरके, सगे-सम्बन्धी हों या पास-पड़ोसी, नजदीकी लोग हों या दूरके, दफ्तरके लोग हों या कारखानेके, परिचित हों या अपरिचित—सभीकी टीका करना, सभीकी आलोचना करना, सभीमें दोष निकालना, सभीपर 'रिमार्क' करना क्यों मैंने अपना धंधा बना लिया है?"

क्या जवाब दूँ मैं आपके इस सवालका?

मैं तो सिर्फ इतना जानता हूँ कि जजका—काजीका—फैसला देनेवालेका काम मुझे जी-जानसे प्यारा है। दूसरोंकी टीका करनेमें मुझे बड़ा रस मिलता है। यह काम मुझे पसंद ही नहीं, बहुत पसंद है। सच मानिये, मुझे लगता है कि दूसरोंकी नुक्ताचीनी नहीं करूँगा तो मेरा खाना ही हजम न होगा। मेरा स्वभाव ही बन गया है—पराये दोषोंको खोज-खोजकर निकालना और फिर भरपूर नमक-मिर्च मिलाकर उनका रात-दिन प्रचार करना।

* * *

संत विनोबाने कहीं एक पुरानी कहानी पढ़ी थी। आप भी सुन लीजिये, वह कहानी।

'दुनिया पैदा करें'—ब्रह्माजीकी यह इच्छा हुई। इसके मुताबिक कारबार शुरू होनेवाला था कि पता नहीं, कैसे उनके मनमें आया कि अपने काममें भला-बुरा कहनेवाला कोई रहे तो बड़ा मजा आयेगा।

उन्होंने एक तेज तर्रार टीकाकार गढ़ा।

उसे यह अख्तियार दिया कि 'अब मैं जिसे गढ़ूँ, उसकी जाँच तू कर।'

इतनी तैयारीके बाद चतुराननने अपना कारखाना चालू कर दिया।

इधर वे एक-एक चीज गढ़ने लगे, उधर टीकाकार हर चीजमें कोई ऐब निकालने लगा।

'हाथी ऊपर नहीं देखता।'

'ऊँट ऊपर ही देखता है।'

'गदहेमें तेजी नहीं है।'

'बंदरमें शान्ति नहीं है।'

—यों टीकाकार अपनी टीकाके तीर छोड़ने लगा—अपनी उपयोगिता साबित करने लगा।

चतुरानन बेचारे चकरा उठे।

आखिर उन्होंने अपनी सारी अक्ल खर्चकर अपना सबसे नायाब—श्रेष्ठ नमूना पेश किया—मनुष्य, इन्सान।

लेकिन टीकाकारने उसमें भी एक चूक निकाल दी—'इसकी छातीमें खिड़की नहीं। खिड़की होती तो सब लोग इसके विचार समझ लेते।'

बुरी तरह खीझकर ब्रह्मा बोले—'तुझे मैंने गढ़ा, यही मेरी चूक हुई। चल, मैं तुझे शंकरजीके सुपुर्द कर दूँ।'

* * *

संत विनोबा कहते हैं कि 'इस कहानीमें शंकरकी एक ही गुंजाइश है। वह यह कि टीकाकार शंकरजीके सुपुर्द हुआ नहीं दीखता। शायद ब्रह्माजीको उसपर रहम आ गया होगा या शंकरजीने अपनी ताकत नहीं आजमायी होगी, तभी तो आज उसकी जाति बहुत फैली हुई पायी जाती है।'

तो, चतुराननकी यह चूक हम आनरेरी—स्वेच्छाप्रेरित जजों—काजियों—फैसला देनेवालोंके लिये बड़ी बढ़िया साबित हुई। हमारी बिरादरी आज सारी दुनियामें फैली हुई है! अखबारों और पत्र-पत्रिकाओंतक ही वह सीमित नहीं, घर-बाहर, यत्र-तत्र-सर्वत्र उसका बोलबाला दीखता है।

पिताजी, माताजी, श्रीमतीजी, बहनजी, भाईजी, बेटाजी, बेटीजी, बहूजी, ननदजी, देवरजी—घरके छोटे-बड़े—सभी लोगोंपर इस हवाका ऐसा असर है कि जिसे देखिये, वही स्वेच्छाप्रेरित जज—फैसला देनेवाला—काजी बना बैठा है; टीकाकार और आलोचक बना बैठा है।

'तू नालायक है। तुझमें यह दोष है। तू डूब भी नहीं मरता। तूने हमारे कुलमें दाग लगा दिया। तूने माँ-बापकी प्रतिष्ठा धूलमें मिला दी।'—रोज ऐसी

अनेक बातें हम सुनते हैं। एक-दूसरेके खिलाफ सुनते हैं। सुबहसे शामतक, शामसे सुबहतक ऐसी ही बातोंकी नाना रूपोंमें पुनरावृत्ति होती रहती है। बिरला ही घर बचा होगा ऐसी टीका-टिप्पणियों और आलोचनाओंसे।

बाहर झाँकिये। बगलमें झाँकिये। पास-पड़ोसमें नजर दौड़ाइये। सर्वत्र जज—फैसला-देनेवाले लोग ऐसा ही इंसाफ करते मिलेंगे। सड़क हो, चौराहा हो, गङ्गाजीका किनारा हो, पार्क हो, मैदान हो, स्टेशन हो—जहाँ भी दो-चार लोग जुटे कि यह कारबार चालू।

घरवालोंकी टीकासे यदि फुर्सत मिली तो बाहरका सारा आलम पड़ा हुआ है—'इसमें यह दोष, उसमें वह दोष। इसे यह करना चाहिये था, उसे वह करना चाहिये था।' कुछ नहीं तो आम चर्चाका विषय राजनीति तो है ही; उसका 'ट ट प प' ही होता है—टीका-टिप्पणी और आलोचनासे।

किसमें कौन-सा दोष है, इस बातका पता स्वेच्छाप्रेरित जजों—काजियोंको सबसे पहले लग जाता है। दूल्हा मण्डपमें पहुँच भी नहीं पाता कि वधूकी सहेलियोंके पास उसके रंग-रूप, हाव-भाव, दोष-गुण आदिका कच्चा चिट्ठा पहले पहुँच जाता है।

और तमाशा तो यह कि ऐसे जजोंको—काजियोंको गुण बहुत कम दीखते हैं, दोष अधिक दीखते हैं। कभी-कभी तो गुण भी दोष ही दिखायी पड़ते हैं। संत विनोबा कहते हैं और ठीक कहते हैं कि 'मनुष्यके मनकी रचना कुछ ऐसी चमत्कारपूर्ण है कि दूसरेके दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखायी देते हैं, वैसे गुण नहीं दिखायी देते। अग्निका धुआँ, सूर्यकी रात, अथवा चन्द्रका कृष्ण-पक्ष देखनेवालोंका यह सम्प्रदाय छुतहे रोगकी तरह बढ़ रहा है। पुतली काली होनेकी वजहसे या काले रंगमें अधिक आकर्षण होनेकी वजहसे किसीका भी काला पक्ष हमारी आँखोंमें जैसा सूझता है, वैसा उज्ज्वल पक्ष नहीं सूझता!'

* * *

हमलोग स्वेच्छाप्रेरित जज—फैसला देनेवाले लोग काला चश्मा लगानेके आदी हैं, भले ही वह आपको हमारी आँखोंके ऊपर चढ़ा न दीखे। हम जिधर देखते हैं, उधर ही हमें कालापन ही नजर आता है। हमें गुण दीखते ही नहीं, दोष ही दीखते हैं।

* * *

यह परदोष-दर्शन और परदोष-कथन इतना जनप्रिय होते हुए भी व्यवहार और परमार्थके लिये—अपने लिये और समाजके लिये घातक-ही-घातक है। जिस विचारका—जिस भावका हम बार-बार चिन्तन-मनन करते हैं, वह हमारे स्वभावका अङ्ग बन जाता है।

भगवान्ने कहा ही है—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।'
(गीता २। ६२)

परिणाम यह होता है कि लोगोंमें जिन दोषोंका होना हम देखते हैं—वे उनमें हैं कि नहीं, भगवान् जानें—पर हममें तो वे दोष धीरे-धीरे जमने लगते हैं और हमारा परमार्थ उनके समक्ष कपूरकी भाँति उड़ने लगता है। अन्तमें हमारा ज़ीवन दोषमय ही हो जाता है।

अतएव परमार्थके पथिकको—अपनी आत्माका कल्याण चाहनेवालेको परदोष-दर्शन, परदोष-चिन्तन, परदोष-कथन, परदोष-श्रवणसे सदा बचना चाहिये।

परदोष-दर्शन-कथनके कीटाणु टी० बी० और कैंसरके कीटाणुओंसे भी अधिक घातक हैं—भयावह हैं।

नाम-साधना

(लेखक—श्रीजयकान्तजी झा)

संसार-सागरसे पार होनेके लिये श्रीहरिनामसे बढ़कर और कोई भी सरल साधन नहीं है। मङ्गलमय भगवन्नामसे लोक-परलोकके सारे अभावोंकी पूर्ति तथा दुःखोंका नाश हो सकता है। अतएव सांसारिक दुःख-सुख, हानि-लाभ, अपमान-मान, अभाव-भाव, विपत्ति-सम्पत्ति—सभी अवस्थाओंमें प्रतिक्षण भगवान्‌का नाम लेते रहना चाहिये। ऐसा विश्वास रखना चाहिये कि 'नाम' साक्षात् भगवान् ही हैं। नामका जप, कीर्तन और स्मरण सबसे बढ़कर भजन है। नाम-जप करनेवालोंको बुरे आचरण और बुरे भावोंसे सर्वथा बचना चाहिये। झूठ-कपट, धोखा, विश्वासघात, छल-चोरी, निर्दयता-हिंसा, द्वेष-क्रोध, ईर्ष्या-मत्सरता तथा दूषित आचार आदि दोषोंसे सदैव दूर रहना चाहिये। एक बातका विशेषरूपसे ध्यान रहे कि भजनका बाहरी स्वाँग बनाकर इन्द्रिय-तृप्ति अथवा स्वार्थ-साधनकी ओर प्रवृत्ति न होने पाये। नामसे निश्चय ही महान् पापोंका नाश हो जाता है, परंतु यही सोचकर नामको पाप करनेमें कदापि सहायक नहीं बनाना चाहिये।

नाम जपते-जपते ऐसी भावना करनी चाहिये कि प्रत्येक नामके साथ भगवान्‌के दिव्य गुण—अहिंसा, सत्य, दया, प्रेम, सरलता, साधुता, परोपकार, सहृदयता, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, संतोष, शौच, श्रद्धा, विश्वास आदि मेरे अंदर उतर रहे हैं। मेरा जीवन इन दैवी गुणोंसे तथा भगवान्‌के प्रेमसे ओत-प्रोत हो रहा है। अहा! नामके उच्चारणके साथ ही मेरे इष्टदेव प्रभुका ध्यान हो रहा है, उनके मधुर-मनोहर स्वरूपके दर्शन हो रहे हैं तथा उनकी सौन्दर्य-माधुरी एवं त्रिभुवनपावनी ललित लीलाओंकी झाँकी हो रही है। मेरे मन-बुद्धि-अहंकारादि उनमें तदाकारताको प्राप्त हो रहे हैं।

मन न लगे तो नाम-भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये—'हे नाम-भगवान्! तुम दया करो, तुम्हीं मेरे साक्षात् प्रभु हो; अपने दिव्य प्रकाशसे मेरे अन्तःकरणके अन्धकारका नाश कर दो, मेरे मनके सारे मलको जला दो। तुम सदा मेरी जिह्वापर नाचते रहो और नित्य-निरन्तर मेरे मनमें विहार करते रहो। तुम्हारे जीभपर आते ही मैं प्रेम-सागरमें डूब जाऊँ और सारे जगत्‌को, जगत्‌के सारे बन्धनोंको, तन-मनको, लोक-परलोकको, स्वर्ग-मोक्षको भूलकर केवल प्रभु-प्रेममें निमग्न हो रहूँ। लाखों जिह्वाओंसे तुम्हारा उच्चारण करूँ, लाखों-करोड़ों कानोंसे मधुर नाम-ध्वनि सुनूँ और करोड़ों-अरबों मनोंसे तुम्हारे दिव्य नामामृतका पान करूँ। तृप्त होऊँ ही नहीं—पीता ही रहूँ नाम-सुधाको और उसीमें समाया रहूँ।'

मनकी चञ्चलताके समय जिह्वा और ओठोंको चलाकर नामका स्पष्ट उच्चारण करते हुए उसे सुननेका प्रयत्न कीजिये। तन्द्रा आती हो तो आँखें खोलकर वाणीसे स्पष्ट जप कीजिये। मनकी चञ्चलताका नाश करनेके लिये इन्द्रिय-संयम अत्यन्त आवश्यक है और उसके लिये स्पष्ट उच्चारण करते हुए वाचिक जप करना चाहिये। वाचिक जपसे मन-इन्द्रियोंकी चञ्चलताका शमन होता है, तत्पश्चात् उपांशु जपके द्वारा नामकी रस-माधुरीकी ओर चित्तकी गति की जाती है एवं तदनन्तर मानसिक जपके द्वारा मधुर नाम-रसका पान किया जाता है।

भगवान्‌के सभी नाम एक-से हैं—सबमें समान शक्ति है, सभी पूर्ण हैं; तथापि जिस नाममें अपनी रुचि हो, जिसमें मन लगता हो और सद्गुरु अथवा संतने जिस नामका उपदेश किया हो, उसीका जप करना उत्तम है। दो-तीन नामोंका (जैसे—राम, कृष्ण, हरि) जप एक ही भावनासे एक साथ भी चले तो भी हानि नहीं है। हम संसारका मामूली-सा धन चाहते हैं, किंतु नाम-जप एक ऐसा धन है, जिससे स्वयं भगवान् ही अपने हो जाते हैं। भक्तोंकी गाथाएँ उच्च स्वरसे इस सत्यकी घोषणा कर रही हैं। नाम-जपका अभ्यास करनेपर तो ऐसी आदत पड़ जाती है कि फिर नाम-जप छूटना कठिन ही हो जाता है। फिर तो साधककी ऐसी प्रबल इच्छा होने लगती है कि सदा-सर्वदा नाम-जप ही किया करूँ।

भगवन्नाममें सर्वार्थ-साधनकी क्षमता निहित है। श्रद्धा, भक्ति और ऐकान्तिक निष्ठाके साथ नाम-जप करते-करते क्षमताका विकास होता है। भोजन करते समय जैसे मनुष्यका ध्यान रहता है व्यञ्जनकी ओर, स्वादकी ओर, परंतु प्रत्येक ग्रासके साथ-ही-साथ क्षुधानाश, देह और इन्द्रियोंकी शक्ति-वृद्धि

तथा स्वादका सुख अपने-आप मिलता जाता है; उसी प्रकार नाम-जपके समय चित्त तो संलग्न रहता है नाम-नामीके अभिन्न स्वरूप मन्त्रमें; किंतु प्रति बारके नामोच्चारणके साथ-ही-साथ अलक्षित रूपमें अनित्य विषय-भोगसे वैराग्य, नित्य सत्य—सच्चिदानन्दस्वरूप मन्त्रात्मा भगवान्में प्रेमभक्ति एवं सर्वार्थसिद्धिमयी भगवदनुभूति और तज्जनित अतीन्द्रिय सुखका हृदयके भीतर विकास होता रहता है। भोजनके फल-स्वरूप ग्रास-ग्रासमें पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति इत्यादिके सम्पन्न होते रहनेपर भी जैसे वे प्रति ग्रासमें दिखायी नहीं देते—अनेक ग्रासोंका फल संचित होनेपर ही पता चलता है, उसी प्रकार नाम-जपके फलको भी प्रति बारके नामोच्चारणके साथ-साथ साधक समझनेमें समर्थ नहीं होता; दीर्घकालके निरन्तर साधनसे अन्तःकरणमें संचित आध्यात्मिक सम्पत्ति अपनी ज्योतिसे ऊपरी मलको दग्ध करके बुद्धि और हृदयके सम्मुख जब प्रकाशित होती है, तभी इसका अनुभव होता है। बुद्धि और हृदय जब स्वच्छ हो जाते हैं, तभी नामके भीतर निहित अचिन्त्य भाव-सम्पत्तिका प्रति बारके नाम-स्मरणमात्रमें आस्वाद प्राप्त होने लगता है।

शास्त्रोंमें नामके प्रति अक्षरबुद्धि रखना महान् अपराध माना गया है। नाम प्राणवान् और आध्यात्मिक तेजका आधार होता है। साधक जितना ही दिन-पर-दिन, क्षण-पर-क्षण नामकी सेवा करता है, उतना ही नामका माहात्म्य साधकके विशोधित अन्तःकरणमें प्रकाशित होता है एवं नाम-निहित शक्ति साधकके अंदर ज्ञान-भाव-रसादि ऐश्वर्य स्वयं प्रकट करके उसे कृतार्थ कर देती है। साधकको सर्वाङ्गीण कल्याणपर पहुँचानेके लिये जिस-जिस वस्तुकी आवश्यकता होती है, वे सभी वस्तुएँ नाम-साधनासे सुलभ हो जाती हैं। शास्त्रीय विचारके द्वारा नाम-तत्त्वको हृदयंगम करके उसकी अचिन्त्य शक्तिमें अविचल विश्वास रखना आवश्यक होता है। ऐसी धारणा बनाये रखनी चाहिये कि नाम और नामी—दोनों एकमूर्ति हैं। वे चिन्मय देह धारण करके अपनी कृपासे हमारे हृदयमें विराजमान हैं। अतः सर्वदा सतर्क, अप्रमत्त और भक्तिपूतचित्त होकर उनकी सेवामें सम्पूर्ण शक्तियोंका लगाना ही हमारा कर्त्तव्य है। नित्य-निरन्तर प्रेमके साथ नाम-स्मरण-चिन्तन एवं निदिध्यासन ही हमारा अभीष्ट होना चाहिये। यही नाम-साधना है। इसीसे सर्वार्थसिद्धि होती है।

'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।'

नामके उच्चारण या स्मरण मात्रसे नामीका स्वरूप चित्तपटपर उदित होता है। अतः नामका अर्थ है—नामी। नामीके स्वरूपके साथ जितना घनिष्ठ परिचय संस्थापित होता है, नामका अर्थ उतना ही स्पष्ट होता जाता है। नामके प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक मात्राके अर्थकी एवं समष्टिरूपसे नामके शाब्दिक अर्थकी शब्द-शास्त्र और युक्तिकी सहायतासे बुद्धिद्वारा पर्यालोचना करनेपर भी नामके वास्तविक अर्थका ज्ञान नहीं होता। किसी एक नये मनुष्यसे भेंट होनेपर, उसके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके आकार-संनिवेश और गति-विधिका विशेषरूपसे निरीक्षण करनेसे, अथवा बाहरसे उसकी कितनी ही बातें सुनकर या कार्योंको देखकर, अथवा उसकी वंशावलीका परिचय जानकर भी उस मनुष्यको यथार्थरूपसे जाना या पहचाना नहीं जाता। परंतु मनुष्यके साथ नाना प्रकारकी अवस्थाओंमें बार-बार सङ्ग करते-करते उसके कार्यकलाप, वार्तालाप, हाव-भाव इत्यादिके भीतरसे उसके अन्तर्जीवनकी प्रकृतिके सम्बन्धमें जितना घनिष्ठ परिचय प्राप्त होता है, मनुष्यकी चिन्ताधारा, भावधारा, कर्मधारा, ज्ञान-विज्ञान, शक्ति-सामर्थ्य और सुख-दुःख इत्यादिके साथ जितना योग संस्थापित होता है, उतना ही उसको पहचाना जाता है, समझा जाता है और उसके साथ एक सम्बन्ध प्रतिष्ठित होता जाता है। उसी प्रकार नाम-देहके अङ्ग-प्रत्यङ्गके संनिवेशको बारीकीसे खोजनेपर भी उसके सम्बन्धमें कोई वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं होता और तत्त्वतः नामका अर्थ अज्ञात ही रहता है। नामके वास्तविक अर्थका यथार्थ परिचय प्राप्त करनेके लिये नित्य-निरन्तर विचारशील चित्तसे नामकी सेवा करना आवश्यक है। श्रद्धा, भक्ति और एकाग्रताके साथ विचारपूर्वक नामका सङ्ग और सेवा करते-करते नाम-रूपमें अवतीर्ण भगवान्का स्मरण, चिन्तन और कीर्तन करते-करते, देह, मन और बुद्धि जितनी निर्मल, विक्षेपरहित एवं प्रेमरससिक्त होंगी, उतना ही नामके स्वरूपके साथ साधकका परिचय होगा, उतना ही नाम और नामीके बीचका प्राकृतिक व्यवधान तिरोहित होगा; नामके भीतर भगवान्का प्रकाश भी उतना ही समुज्ज्वल होगा और विश्वगुरु भगवान् अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्यके साथ नामके भीतरसे अपनेको प्रकट करके साधकको कृतार्थ कर देंगे और तभी नामका सम्यक् अर्थ जाना जायगा। नामके

अर्थको समझ लेना अथवा नामी—भगवान्‌के स्वरूपकी उपलब्धि कर लेना एक ही बात है। भगवान्‌को पहचानना ही नामको पहचानना है, भगवान्‌के साथ परिचय होना ही नामके साथ परिचय होना है। सुदृढ विश्वास और अनुरागके साथ नाम-साधन करते-करते जितनी ही नामकी अर्थोपलब्धि होगी, अर्थात् नामके साथ परिचय होगा, उतना ही नामका प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक मात्रा चिन्मय जान पड़ेगी एवं नाम-स्मरणमात्रसे चित्त भगवान्‌में समाहित हो जायगा। अतः साधकको आरम्भसे ही 'नाम'को चिन्मय, अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न और भगवान्‌के साथ स्वरूपतः अभिन्न मानकर उसपर दृढ़ विश्वास बनाये रखना चाहिये।

निरन्तरका नाम-जप ही प्रकृष्ट साधन है। खाते, सोते, बात करते, रास्ता चलते, काम करते—सर्वदा सभी अवस्थाओंमें नाम-स्मरणकी चेष्टा बनी रहनेपर शीघ्रातिशीघ्र उन्नति होती चली जाती है। प्रत्येक श्वास-प्रश्वासके साथ नाम-जप करना ही श्रेयस्कर है। ऐसा विश्वास रखना चाहिये कि श्वास लेनेके साथ-साथ अचिन्त्य शक्ति-समन्वित नाम भी शरीर, इन्द्रिय और मनके प्रत्येक रन्ध्रमें प्रवेश कर जाता है एवं सम्पूर्ण सत्ताको भगवद्भावित और भगवद्भक्ति-रससे प्लावित कर देता है। नाम-जप इस प्रकार करना आवश्यक है कि जिसमें किसी विशेष आयोजन या प्रयत्नकी आवश्यकता न पड़े—अपने अनजानमें भी मन स्वभावसे ही नाम-जपमें लगा रहे। नामकी शक्तिसे मनका धर्म बदल जाता है—नित्य-निरन्तर भगवद्भावाविष्ट होकर रहना ही उसका स्वभाव बन जाता है। शरीर यदि अपवित्र हो, इन्द्रियाँ चञ्चल रहें, मन कुत्सित चिन्तामें डूबा हो तो भी नामको नहीं छोड़ना चाहिये। नामको किसी प्रकार अपवित्र और इसके माहात्म्यको किसी प्रकार नष्ट नहीं किया जा सकता। नाम नित्य शुद्ध, नित्य मुक्त, महाशक्तिका आधार है। सभी अवस्थाओंमें नामका सङ्ग करते-करते नाम ही देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धिमें पवित्रता, स्थिरता और आत्मनिष्ठाका सम्पादन करके अपने स्वरूपको प्रकाशित करेगा। नित्य-निरन्तर नाम-साधनका अभ्यास करनेसे और किसी साधनका प्रयोजन नहीं रह जाता, किसी शक्ति या प्रक्रियाकी सहायता लेनेकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

भगवन्नामका किसी भी दूसरे काममें प्रयोग नहीं करना चाहिये। भगवन्नाम लेना चाहिये केवल भगवान्‌के लिये, उनके प्रेमके लिये। स्थिति ऐसी हो जाय कि नाम लिये बिना रहा न जाय; भजन हुए बिना मनको एक क्षण भी चैन न पड़े। जैसे श्वास रुकते ही गला घुटने लग जाता है—प्राण अत्यन्त व्याकुल होकर छटपटाने लगते हैं, उसी प्रकार भजनमें जरा-सी भी भूल होनेसे—क्षणभर भी नाम-जप छूटनेसे प्राण छटपटाने लगें। सच्चे नाम-जपकर्त्ताका मन परमात्मामें—उनके नाम-स्मरण-चिन्तनमें रम जाता है और वह तृप्त, पूर्णकाम तथा अकाम हो जाता है। ऐसे ही भक्तोंके लिये भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(११।१४।१४)

अर्थात् 'जिसने अपना चित्त मुझमें अर्पित कर दिया है, वह मुझे छोड़कर ब्रह्माजीका पद, स्वर्गका राज्य, समस्त भूमण्डलका चक्रवर्तित्व, पातालादि देशोंका आधिपत्य, अणिमादि योगसिद्धियाँ तथा मोक्ष कुछ भी नहीं चाहता।'

इस प्रकार ऐकान्तिक निष्ठा और अनुरागके साथ नाम-साधनपथपर आरूढ़ रहनेसे प्राणका कार्य अपने-आप नियमित हो जाता है; चित्त नामानन्दके आकर्षणसे विषय-विमुख होकर भगवत्स्वरूपमें स्थित होनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है एवं साधकको क्रमशः भगवान्‌की निश्चला निष्काम भक्ति प्राप्त हो जाती है। अतः ऐसे सुगम एवं सर्वश्रेष्ठ साधनके द्वारा हमें अपने जीवनको कृतार्थ कर ही लेना चाहिये।

हे परमेश्वर ! इन्हें क्षमा कर ।

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'याद रखो, तुमको प्राणियोंकी सेवाके लिये जन्म दिया गया है, उनको दुःख देनेके लिये नहीं । दंडकी अनधिकार चेष्टा न करो । तुम्हारा कर्तव्य केवल सेवा-तक ही सीमित है ।'

निर्दोष ईसामसीहको मारनेके लिये सूलीपर चढ़ा दिया गया । हाथ-पाँवोंमें कीलें गाड़कर उन्हें निर्ममतापूर्वक सूलीपर टाँग दिया गया था, जिससे तिल-तिलकर उनके प्राण निकलें !

ईसाके हितैषी, बन्धु, मित्र, अनुयायी उनके शरीरमें होनेवाली इस असह्य पीड़ाको देखकर चिन्तित—दुःखित थे । एक दयालु-सज्जन-ईश्वरभक्तका यह कारुणिक अन्त ! जिस भक्तने स्वप्नमें भी कभी किसीका कोई अहित नहीं किया, कभी किसीको नहीं सताया, जो कभी हिंसा, क्रोध, आवेश-जैसे राक्षसी मनोविकारोंमें नहीं फँसा, जो मानवमात्रकी सेवा और कल्याणमें निरन्तर जुटा रहा, उसीका आज असत्य और कुविचारोंके वशीभूत होकर उनके विरोधी प्राणान्त कर रहे थे !

साधारण कोटिका व्यक्ति होता तो मृत्युकी उन दुःखद घड़ियोंमें हाथ-पाँव मारता, अपशब्दोंका उच्चारण करता, दंड और सजाकी बातें करता, विरोधियोंको उनकी नीतिके लिये बुरा-भला कहता और तबतक गालियाँ देता रहता, जबतक उसके शरीरमें प्राण रहते !

पर ईसाने ऐसा कुछ भी नहीं किया ।

उन्होंने मरनेसे पूर्व शान्तिपूर्वक भगवान्से प्रार्थना की—'हे परमेश्वर ! इन्हें क्षमा करना; क्योंकि ये अबोध नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं ?'

उन्होंने प्रतिशोध, क्रोध, आवेश, शत्रुतापूर्ण बातोंके स्थानपर अपने विरोधियों, दुष्टों, पापियोंतकको क्षमा कर देनेकी प्रार्थना क्यों की ?

कारण समझ लीजिये और उनके शब्दोंकी महत्ता प्रकट हो जायगी । दुष्टों, अपराधियों और पापियोंको ईसाने अविकसित (Un-developed) और अल्प-विकसित (Under-developed) व्यक्ति माना था । जिस मनुष्यका मस्तिष्क विकसित नहीं हुआ, वह विकासकी किसी प्रारम्भिक मंजिलपर ही पड़ा हुआ है । जिसके मस्तिष्कने ज्ञानद्वारा अपनी उच्च नैतिक विवेक-शक्तियोंको जाग्रत् नहीं किया है, वह अबोध और अज्ञानी ही कहा जायगा; वह अन्धकारमें ही भटक रहा है । वह उस अबोध बच्चेकी तरह है, जो घिसट-घिसट-कर जीवन-यात्रा प्रारम्भ कर रहा है । आकार, शक्ल-सूरत-में वह चाहे अधिक आयुवाला पुरुष दिखायी दे, किंतु उसका मस्तिष्क अभी बालक-जैसा ही अविकसित है । अविकसित बुद्धि और कम अनुभववाला व्यक्ति यह नहीं जान पाता कि उसके कर्मका क्या फल होगा ? उसमें सूक्ष्मदर्शिताकी न्यूनता होती है । वह दूरदर्शी नहीं होता; अपना आगा-पीछा नहीं सोच पाता । अपरिपक्वावस्थामें वह प्रायः ऐसे मूर्खतापूर्ण कार्य कर बैठता है, जो अधिक विकसित और अनुभवी व्यक्तियों-को कष्ट पहुँचाने और उनके मनको दुखानेवाले होते हैं ।

अविकसित और अल्पविकसित स्त्री-पुरुषोंद्वारा यदि कोई अनुचित या मूर्खतापूर्ण कार्य भी हो जाय तो उन्हें पता नहीं चलता कि वास्तवमें वह ठीक नहीं था । वे दुष्कर्म और पापको पहचान नहीं पाते । उनका बचकाना मस्तिष्क इतना समझदार नहीं होता कि वह

अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित, ऊँचे-नीचेका विवेक कर ले । भलाई-बुराईका अन्तर समझ ले ।

अविकसित और अल्प-शिक्षित व्यक्ति प्रायः असभ्य, अपढ़, बर्बर, गँवार और मूढ़ होते हैं । आत्मपरिष्कार और विकासकी कमीके कारण वे दुष्ट मनोविकारोंके वशमें जल्दी ही आ जाते हैं और आवेशकी उग्रतामें पशुओं या राक्षसों-जैसे दुष्टतापूर्ण कार्यतक कर बैठते हैं । आज हमारे समाजमें जो अनुचित व्यवहार, लूट-खसोट, चोरी, हिंसा, मुकदमेबाजी इत्यादि अनैतिक कार्य फैले हुए हैं, वे सब अविकसित मस्तिष्कोंके ही उत्पात हैं । यदि परिवार, पड़ोस या रिश्तेदारीमें कोई ऐसा व्यक्ति हो तो वह भी परेशानीका कारण बन सकता है । आप उससे कैसे निपटें ? आपका क्या कर्तव्य हो ?

मनुष्यमें विवेकशीलता सबसे मूल्यवान् सद्गुण है । वह हमें अच्छे-बुरेका अन्तर बतानेवाला ईश्वरीय गुण है । यही गुण नैतिकताकी जड़ है । सच्ची विद्या वह है, जो हमारी विवेकशीलताको विकसित करती है, हमें सद्-व्यवहार सिखाती है और शुभ कर्मोंकी ओर अग्रसर करती है। मनुष्य शुभ कार्य करके देव बनते हैं । शुभ कर्म ही कीजिये और उनके द्वारा इसी मानव-शरीरसे धरतीके देवताका प्रतिष्ठित पद प्राप्त कीजिये ।

उचित-अनुचितकी गुत्थी सुलझाना कठिन है । अल्प-विकसित और अविकसित व्यक्ति उचित-अनुचितका विवेक नहीं जानते; अतएव उनके द्वारा अपराध अधिक होते हैं। उन्हें प्रायः यह पता नहीं चलता कि वे जो कार्य कर रहे हैं, वह अनुचित है । वे लोग अपनी अल्प बुद्धिके कारण झगड़े-फसाद और विरोध करते रहते हैं । अल्प-विकसित लोग मनमाना व्यर्थका विरोध करते हैं, व्यर्थके झगड़े उठाते रहते हैं । उनकी उत्तेजनासे मार-पीट, हिंसा, कतल, दंगे-फँसाद होते हैं । मामला बढ़नेसे अदालत-में मुकदमेबाजी होती है । वकील दोनों पक्षोंसे मनमाना रुपया ऐंठते हैं; उन्हें मूर्ख बनाते हैं । बेमतलबकी उलझनें उत्पन्न होती हैं ।

सम्भव है, आपके घर-परिवार, पास-पड़ोस, मुहल्ले या इर्द-गिर्द दफ्तरमें कोई आपके सम्पर्कमें आनेवाले अल्प-विकसित या अशिक्षित नासमझ व्यक्ति हों । ये अल्पबुद्धि लोग आपको व्यर्थ ही परेशान करते हों, नासमझीमें आकर व्यर्थके झगड़े उत्पन्न करते हों और आप उनकी मूर्खताओंकी नाजायज हरकतोंसे उद्विग्न रहते हों । ऐसे नाजुक मौकोंपर आप कृपया शान्त-संतुलित रहें और ठंडे मनसे निर्णय लें । शान्तिपूर्वक समस्याको सोचें कि उसके अन्तिम परिणाम क्या हो सकते हैं ? आप भी यदि अविकसित या अल्प-विकसित व्यक्तियों-के कहनेमें आकर साधारण-सी बातपर झगड़ा कर बैठेंगे, तो उसके क्या-क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं ? आप अदालतमें बेमतलबकी मुकदमेबाजीमें फँस सकते हैं ।

परिवारोंमें नारियाँ प्रायः अविकसित, अपढ़ और अशिक्षित मानसिक अवस्थामें रह जाती हैं । उनमें मानसिक परिपक्वता या दूरदर्शिता कम होती है । वे छोटी-छोटी बातों और घरेलू समस्याओंपर उत्तेजित हो उठती हैं । संयुक्त परिवारोंमें सास-बहूके झगड़े ऐसे ही अल्पबुद्धिजनित झगड़े होते हैं । आपके परिवारमें भी अल्प-विकसित नारियोंको लेकर उलझनें पैदा हो सकती हैं । इन झगड़ोंमें आप परिस्थितिसे पृथक् होकर, ऊपर उठकर विवेकपूर्ण निर्णय लें । अविकसित स्त्रियोंके नासमझी या बचकाने कार्योंपर उन्हें क्षमा करें, पर उनसे सावधान रहें । उनकी मूर्खतासे प्रभावित न हों । उनके निर्णयोंपर स्वयं दुबारा नये सिरेसे सोचें और दूरदर्शिता-के आधारपर फैसला करें । जल्दबाजी या उत्तेजनामें कोई ऐसा पग न उठा लें कि पछताना पड़े । आत्महत्याओं-

की दुर्घटनाएँ ऐसी ही उत्तेजनाकी अवस्थामें होती हैं।

इसी प्रकार मैं अपनी बहनोंसे भी प्रार्थना करता हूँ कि यदि संयोगवश उनके पतिदेव या परिवारके अन्य कोई सदस्य अविकसित या अर्द्ध-विकसित अवस्थामें हों तो अपने कर्तव्यका ध्यान रखते हुए उन्हें शान्तिपूर्वक निभा लेना चाहिये। आपका मित्र और पड़ोसी भी अल्पविकसित अवस्थामें गलत सलाह दे सकता है, आपको उलझनमें फँसा सकता है। मूर्ख, अल्पज्ञ और नासमझ व्यक्तियोंको अबोध मानकर क्षमा करना या उनकी उपेक्षा करना ही उचित है। पापका प्रधान कारण आत्मज्ञानका अभाव ही है। जिसका जितना अज्ञान दूर होगा, वही पापसे छूटेगा। अतः मूर्खताकी उपेक्षा ही कीजिये।

कल कभी नहीं आता

(लेखक—श्रीमारित्ज आर० इरहर्ड)

आनेवाले मधुर कलका सपना किसने नहीं देखा है ? क्या कल आनेवाली अथवा पूरी होनेवाली बातों या घटनाओंके मीठे सपने हम नहीं देखते हैं ? क्या हम यह आशा नहीं करते कि कल भगवान् हमारी प्रार्थनाके अनुरूप हमारी मनःकामनाएँ और इच्छाएँ पूरी करेंगे। आजके दुःखसे भयभीत होकर कौन नहीं सोचता कि कलका समय आजकी अपेक्षा अधिक आशाप्रद होगा ? निस्संदेह कलका दिन हमारे लिये अधिक प्रभावोत्पादक होता है; क्योंकि कलका ही दिन एक ऐसा दिन होता है जब हम यह समझते हैं कि हम उन कामोंको आज नहीं कर सके, उन्हें कल पूरा कर लेंगे।

यह सच है कि आनेवाला कल अमित आशाप्रद और आश्चर्यजनकरूपसे महान् कहा जाता है; पर जब वह उपस्थित हो जाता है, तब होता क्या है ? प्रत्येक आनेवाला कल हमें सम्बुद्ध अथवा सावधान करता है कि 'आज मैं आ गया।' और तब हम देखते हैं कि प्रत्येक कल वास्तवमें आजका रूप ग्रहण कर लेता है। जितना महत्त्व हम आनेवाले कलको देते हैं, उससे यदि थोड़ा कम ही महत्त्व हम आजको प्रदान करते चलें तो हमारा काम बन जाय और हमारे लिये कलका महत्त्व ही समाप्त हो जाय। जिस तरह भावी कलका रूप हमारे लिये आज केवल भविष्यके संदर्भमें अन्तर्हित रहता है, ठीक उसी तरह भविष्यकी मनःकामनाएँ और समस्त कल्पनाएँ अदृश्य तथा कुहरेके समान विलीन हो जाती हैं। जब आनेवाला कल आजके रूपमें उपस्थित हो जाता है, तब आज ही हमारे लिये सब कुछ है। जिस तरह समस्त बीते (भूत) कल सदाके लिये समाप्त हो जाते हैं, उसी तरह आनेवाले कल वास्तवमें कभी आते ही नहीं। सबसे प्राणवान् समय तो हमारे लिये एकमात्र अब—आज ही है। एकमात्र वर्तमान क्षण ही ऐसा है, जिसमें हम अपने कामको पूरा कर सकते हैं, जीवनको सार्थक बना सकते हैं; कृतार्थ और स्वस्थ तथा उन्नत हो सकते हैं और जान सकते हैं कि भगवान्ने हमारी प्रार्थनाएँ और मनःकामनाएँ पूरी कर दीं। हम आनेवाले कलसे आशाएँ कर सकते हैं और विवेकपूर्वक बुद्धिमत्तासे अपनी योजनाएँ बना सकते हैं; पर उनकी पूर्तिकी सम्भावनाएँ इस बातपर निर्भर हैं कि आज उनके सम्बन्धमें हम कितने दत्तचित्त और तत्पर हैं।

आजकी चिन्ता और दुःखसे छुटकारा पानेके लिये कुछ लोग अपने आपको मृत्युके हाथमें सौंप देनेतककी बात सोचने लग जाते हैं और समझते हैं कि ऐसा करनेसे उनकी चिन्ता और दुःखका अन्त हो जायगा। ऐसा सोचनेपर भी हमारे जीवनमें परिवर्तन नहीं दीख पड़ता। वह तो प्रत्येक आजकी तरह दुःखमय ही बना रहता है। हमारी यह धारणा बन जाती है कि आजकी अपेक्षा कल हम विशेषरूपसे परमेश्वरकी कृपा प्राप्त करेंगे। कभी-कभी तो हम यह सोचने लग जाते हैं कि आजकी अपेक्षा बीते हुए दिनोंमें परमेश्वर हमारे लिये विशेषरूपसे कृपालु तथा अनुकूल थे। क्या हम प्रायः बीते दिनोंकी याद नहीं करते, जब परिस्थिति तथा सभी बातें आजकी अपेक्षा कहीं अनुकूल और अच्छी थीं ? इस तरह अनेक लोग प्रत्येक आजकी महत्तासे वञ्चित रह जाते हैं। हम यह सोच लेते हैं कि आजसे आगामी और बीते कलके परमात्मा कहीं अधिक प्रभावकारी और महान् हैं।

भविष्य और भूतकालके परमात्मा महान् और प्रभावकारी हैं, पर वे शक्तिशाली परमात्मा, आजके भी हैं और आप उन्हें अच्छी तरह समझ सकते हैं। जब हम भविष्यकी

जो है ही नहीं, या भूतकी, जो बीत गया है, खोज करते हैं, तब हम आजका महत्त्व, जो हमारे हाथका नकद सौदा है, खो देते हैं। आगामी कल मधुर है, पर उसकी अपेक्षा आज मधुरतर है। जिस मधुरताको हम कल प्राप्त करना चाहते हैं, उसका रसास्वादन हमें आज ही कर लेना चाहिये।

एक सफल व्यापारी भविष्यमें अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिये बड़ी तत्परता और सावधानीसे अपनी योजनाओंकी रूप-रेखा बनाता है। उसके लिये भविष्य, जो कल्पनासे भी अधिक निराधार है, वास्तविकताके रूपमें परिणत हो जाता है। जब वह अपनी योजनाकी रूप-रेखा बना लेता है, तब भविष्य उसके लिये आज एक सजीव सत्यका रूप ग्रहण कर लेता है। अपनी योजनाको आकार देते समय वह आज ही उसके फलका महत्त्वाङ्कन कर लेता है। भविष्यके दरवाजेको खोलनेके लिये वह ताली प्राप्त करनेकी दिशामें भाग्य या अवसरपर निर्भर नहीं रहता है। जो व्यापारी आजके गर्भमें सफलताका आरम्भ देख लेते हैं, वे ही प्रत्येक आगामी कलको सफलता देनेवाला पाते हैं। हमारी बड़ी-से-बड़ी तथा आवश्यक योजनाएँ कल सफल हो सकती हैं, पर उनके शुभ परिणामकी दिशामें हमारी दृष्टि आज व्यापक होनी चाहिये। जबतक हम आगामी कलकी अपेक्षा आजको कम महत्त्व देते रहेंगे, तबतक हमारी योजनाएँ और मनःकामनाएँ सफल नहीं हो सकतीं।

जो सफलताएँ हम कल पाना चाहते हैं, वे सारी-की-सारी आज ही हमारे लिये सहज सुलभ हैं। आरोग्य, ऐश्वर्य, सुख और हार्दिक कामनाओंकी परिपूर्णताएँ सब कुछ आज ही सुलभ हैं। हमारे भीतर-बाहर तथा सभी परिस्थितियों और वस्तुओंमें परमात्मा हमारे साथ हैं। उन्होंने हमारा सृजन कर हमसे किनारा नहीं कस लिया। प्रत्येक वस्तु, जिसकी हमें अपेक्षा और आवश्यकता है, हमें पहलेसे ही दी गयी है, पर हम केवल उसे ही अपने लिये सुलभ मान सकते हैं, जो परमात्माकी ओरसे हमें आज प्रदत्त है। हम अपने लिये आवश्यक किसी वस्तुकी प्राप्तिके सम्बन्धमें अनिश्चित भविष्यसे आशा नहीं कर सकते; क्योंकि उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। आज ही एकमात्र वह सुनहला समय है, जब हम जीवनकी पूर्णता—सफलताका रसास्वादन कर सकते हैं।

मैं प्रायः अनेक लोगोंसे मिलता हूँ, जिनके लिये प्रत्येक दिन निराशासे पूर्ण रहता है और वे यही कहते पाये जाते हैं कि किसी-न-किसी दिन उनकी समस्याओंका समाधान हो ही जायगा। मैंने उन्हें प्रायः यह कहते सुना है—'आजकी अपेक्षा कल अधिक परिश्रम करने अथवा परमात्मासे प्रार्थना करनेपर जीवन सफल हो जायगा।' यह बात निश्चित है कि जबतक हम अपनी समस्याओंके समाधानके लिये भविष्यसे आशा लगाते रहेंगे, तबतक उनकी संदर्भगत सफलताएँ भी भविष्यके गर्भमें समायी रहेंगी। किंतु यदि हम चाहें तो हमारे मनोरथ आज—अभी सिद्ध हो सकते हैं।

अनेक लोग सोचते हैं कि अवकाश प्राप्त करने अथवा कार्य-निवृत्त होनेपर हमारा जीवन सुखमय हो जायगा। अनेक लोग समझते हैं—अमुक-अमुक शुभ मुहूर्तमें योजनाएँ कार्यान्वित करनेसे विशेष लाभ होगा। यदि हम जीवनमें सुखकी मधुरताका दर्शन आज नहीं कर सकते, तो कार्य-निवृत्त होनेपर इसकी प्राप्ति अथवा अनुभूति दुर्लभ है। यदि जीवनका स्वाद आज नहीं पा सकते, तब किसी विशेष शुभ मुहूर्तमें उसके प्रति उत्सुकता लुप्त हो उठेगी। जिन कामनाओंकी पूर्तिकी आशा हम कलपर उठा रखते हैं, उन्हें आज ही हमें सफल देखना आरम्भ कर देना चाहिये। यह कल्पना नहीं है। यही निश्चित पथ है, जिसके द्वारा परमात्मासे की गयी हमारी प्रार्थनाएँ पूर्ण हो सकती हैं।

आगामी कलसे आशा रखना अथवा बीते कलपर विचार करना गलत कार्य नहीं है, पर हमें आजकी सम्भावनाओंके प्रकाशमें उनपर न सोचनेसे विफलताएँ और निराशाएँ ही मिलती हैं। परमात्मा अब भी यहीं हैं। अपनी प्रार्थनाओंकी पूर्णता और योजनाओंकी सफलताके लिये आज जब हम उनके सम्मुख हो जाते हैं, तब हमारी चिरवाञ्छित अभिलाषाएँ पूरी और फलवती हो उठती हैं।

अपनी समस्त आवश्यकताओं और योजनाओंकी पूर्णतामें जब हम आज परमात्माको विद्यमान पावें, तब निस्संदेह हम आजके चमत्कारका अनुभव करेंगे। रहस्यपूर्ण भविष्यके धूमिल गर्भमें हमारी मनःकामनाओं और योजनाओंके फल छिपे नहीं रह सकेंगे। हमें अपनी इच्छाओंकी पूर्ति और प्रार्थनाओंकी पूर्णताके लिये आज ही भगवान्के शरणागत—सम्मुख हो जाना चाहिये। कलके आगमनकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये; आजका सदुपयोग कर लेना चाहिये। ऐसा करनेसे हम एकमात्र परमात्माको पुकारनेवाले व्यक्तियोंके प्रति भगवान्की सनातन व्यापकता, माङ्गलिकता, आरोग्य और उत्थानकी सत्यताका रहस्य जान लेंगे।

भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य जन्म-कर्म

(लेखक—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
(गीता ९। ११)

भगवान् श्रीकृष्ण देखनेमें मानव-जैसे हैं; उन्होंने मानव-शरीर ग्रहण किया है, फिर भी साधारण मानवोंसे उनकी तुलना करना; साधारण मानव-कोटिमें उनकी गणना करना वास्तवमें उनका अपमान करना है। इसमें संदेह नहीं कि भगवान् श्रीकृष्णके अवतारसे मानव-जाति महिमान्वित हुई है; श्रीकृष्णने मानवताको उत्कर्षकी चरम सीमापर पहुँचाया है और मनुष्योंके सामने यह आदर्श उपस्थित किया है कि यदि मानव बुद्धि, विवेक, उत्साह, साहस तथा धैर्यके साथ यथाशक्ति पुरुषार्थके मार्गपर चलता रहे, किसी भी दशामें विचलित न हो तो वह असम्भवको भी सम्भव कर सकता है। सफलता उसके सामने हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। श्रीकृष्णने 'नर'को 'नारायण' पदके अत्यन्त निकट पहुँचा दिया है। अतः वे मानव-शिरोमणि किंवा मानवाग्रगण्य भी कहे जा सकते हैं; तथापि उन्हें केवल मानवताकी सीमामें आबद्ध नहीं किया जा सकता। वे नरत्व और देवत्व—दोनोंसे ऊँचे हैं; सम्पूर्ण भूतेश्वरोंके भी ईश्वर—'भूत-महेश्वर' हैं। उनके परमात्मभावको न जानना या भुला देना आत्मविस्मृतिसे भी अधिक भयंकर है। वे स्वयं अपने नित्य सखा नरके सामने अपने रहस्यका उद्घाटन करते हुए कहते हैं—'मैं अजन्मा हूँ, अव्ययात्मा हूँ और सम्पूर्ण भूतोंका ईश्वर हूँ तो भी जन्म ग्रहण करता हूँ। अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।' इसका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण जन्म और मृत्युको नहीं प्राप्त होते। भला, अजन्माका जन्म कैसा? और जो जन्म ले, वह अजन्मा कैसा? दोनों बातें परस्परविरुद्ध हैं। तो फिर जन्म-ग्रहणका क्या रहस्य है? यही कि वे जन्म लेते-से प्रतीत होते हैं। 'जन्म ग्रहण करने' और 'जन्म लेते-से प्रतीत होने'में महान् अन्तर है। वास्तवमें वे जन्म नहीं लेते तो भी वैसे प्रतीत होते हैं। हवासे बादलोंके तेज चलनेपर उनकी ओटमें पड़ा हुआ चन्द्रमा भी दौड़ता हुआ-सा प्रतीत होता है, किंतु वह प्रतीतिमात्र है, वास्तवमें चन्द्रमा दौड़ता नहीं है। जैसे सूर्य वास्तवमें उदय-अस्तसे रहित है तो भी उसका उदय होना और अस्त होना भी देखा जाता है। इस उदय-अस्तकी प्रतीतिमें कारण है—पृथ्वीका आवरण। आवरण हटनेपर सूर्यका उदय और आवरण आ जानेपर उसका अस्त होना जान पड़ता है। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर सर्वगत नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण अपनी योगमायासे आवृत होनेके कारण अप्रकट हैं और उस आवरणको हटा देनेपर वे प्रकट हो जाते हैं। यही उनकी अवतार-लीला और अन्तर्धान-लीलाका रहस्य है। यह वास्तवमें आविर्भाव और तिरोभाव मात्र है। अज्ञानी इसीको जन्म-मरण मानते हैं और ज्ञानी इस रहस्यकी वास्तविकताको समझकर नित्य-निरन्तर आनन्दमग्न रहते हैं।

सारे संसारकी उत्पत्ति मूल प्रकृतिके अधीन है; समस्त जीव उसी प्रकृतिके अधीन होकर ही जन्म ग्रहण करते हैं; किंतु भगवान् उस मूल प्रकृतिको भी अपने अधीन करके प्रकट होते हैं। यही उनके जन्मकी दिव्यता है। एक बात और ध्यान देनेकी है—भगवान् प्रकृतिको अधीन करके प्रकट तो होते हैं, परंतु उनके उस प्राकट्यमें द्वार बनती है—'आत्ममाया'। आत्ममायासे उनकी ऐश्वर्य-शक्ति या इच्छा-शक्तिरूपा योगमायाका ग्रहण किया गया है। यों तो भगवान् सर्वत्र विराजते ही हैं और मूल प्रकृति भी सदा-सर्वदा भगवान्के अधीन है ही, फिर भी हम उन्हें व्यक्तरूपमें नहीं देख पाते; क्योंकि वे योगमायासे समावृत रहते हैं। जब अवतार लेनेका समय आता है, तब वे उस योगमायाके आवरणको हटाकर प्रकट हो जाते हैं।

पुराण आदि शास्त्रोंमें श्रीकृष्ण-अवतारका जो वर्णन आता है, उसपर ध्यान देनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। साधारण जीव जब जन्म लेते हैं, उस समय माताको प्रसव-वेदना होती है, वह पीड़ासे कराहती भी है; किंतु श्रीकृष्णके जन्म-कालमें पासके ही पहरेदार मौजसे नींद लेते रहे। आधी राततक वे जगे कैसे रहें? फिर ज्यों-ही बालकके रोनेकी आवाज हुई, त्यों ही वे जाग पड़े। उस समय भगवान् आकाशमें ही दिव्य चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए थे। प्रकट क्या हुए? योगमायाका परदा हटा दिया और वे दीखने लगे। माता देवकीका गर्भ-भार स्वतः हलका हो गया।

माता-पिताने स्तुति की, वार्तालाप हुआ। उसके बाद माताके अनुरोधसे भगवान् शिशुरूपमें दीखने लगे। यह सब जन्मकी लीलामात्र ही तो है। साधारण जीव प्रकृतिके अधीन हो अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेते और सुख-दुःख भोगते हैं। भगवान्का जन्म इस प्रकार नहीं होता। वे प्रकृतिके नियन्ता होकर योगमायासे समय-समयपर लोक-कल्याणार्थ लीला करनेके लिये प्रकट होते हैं। जीवोंको अनिच्छासे विवश होकर गर्भवासका कष्ट भोगना, नियत समयपर योनिसे शरीरसहित बाहर निकलना तथा जरा-व्याधि आदिका दुःख सहन करना पड़ता है। किंतु भगवान् स्वेच्छासे, जब चाहें, जहाँ चाहें, जिस रूपमें चाहें, प्रकट और अन्तर्धान हो सकते हैं। क्षणभरमें अनेक छोटे-बड़े रूप धारण कर सकते हैं। व्रजलीलाके समय ब्रह्माजीको जब मोह हुआ था, उस समय भगवान् स्वयं ही गोप-बालक, गोवत्स, लकुटी और वस्त्र आदिके रूपमें प्रकट हो यथायोग्य व्यवहार करते थे।

साधारण जीवोंकी अपेक्षा तो महात्माओं और योग-भ्रष्ट पुरुषोंके जन्ममें भी विलक्षणता होती है, फिर साक्षात् भगवान्के जन्मके विषयमें तो कहना ही क्या है? उस समय तो वसुदेव और देवकीके शरीर भी तेजोमय प्रतीत होते थे। साधु पुरुषोंके हृदयमें सहसा प्रसन्नता छा गयी। अग्निहोत्र-गृहमें बुझी हुई आग अपने-आप प्रज्वलित हो उठी। नदियोंका जल पावसमें भी शरद्के समान स्वच्छ हो गया। रातमें भी कमल खिल उठे। आकाश स्वच्छ हो गया, तारे चमकने लगे। सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाश एवं हर्षोल्लास छा गया। ग्रह शुभ स्थानपर आ गये। उनकी गति ठीक हो गयी। वनों और उपवनोंके समस्त वृक्ष फल-फूलोंके भारसे लद गये। इस प्रकार प्रकृतिके राज्यमें भी महान् परिवर्तन हो गया। क्या यह सब श्रीकृष्णके जन्मकी दिव्यताका परिचायक नहीं है?

श्रीकृष्ण अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं और जन्म लेकर भी अजन्मा हैं। वे एक ही साथ अजन्मा भी हैं और जन्मवान् भी। वे व्यक्त-भावको प्राप्त होकर भी अव्यक्त हैं, परमात्मस्वरूप हैं, अविनाशी हैं और सर्वश्रेष्ठ हैं; जो इन्हें इस रूपमें नहीं जानते, वे अज्ञानी हैं। (गीता ७। २४) वे आकाश आदि पञ्चभूतों तथा समस्त प्राणियोंके कारण एवं अविनाशी परमेश्वर हैं, ऐसा ज्ञान दैवी-सम्पत्तिसे युक्त महात्मा पुरुषोंको ही होता है। (गीता ९। १३) श्रीकृष्ण अजन्मा, अनादि और लोकमहेश्वर हैं, इस बातको जो भली-भाँति जान लेता है, वही असम्मूढ है। (गीता १०। ३)

इस रहस्यका बोध कैसे हो? इसका उपाय है—दैवी-सम्पत्तिको अपनाकर महात्मा बनना। फिर यह सारा रहस्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण तो साक्षात् भगवान् ही हैं, साधारण मनुष्य भी जब अन्तःशुद्धिका सम्पादन करके ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब उसे इस बातमें तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि आत्मा जन्म-मरण आदिसे रहित है—'न जायते म्रियते वा कदाचित्।' (गीता २। २०) हम जिन जीवोंको सदा जन्मते-मरते देखते हैं, उनकी आत्मा भी अजन्मा और अमर ही है। जन्म-मृत्युकी प्रतीति तो अज्ञानसे ही होती है। तो फिर किसका जन्म और किसकी मृत्यु होती है? शरीरका जन्म और शरीरकी ही मृत्यु होती है—'अन्तवन्त इमे देहाः' (गीता २। १८)। स्थूल-शरीरसे सूक्ष्म-शरीरका संयोग ही जन्म और वियोग ही मृत्यु है। सूक्ष्म-शरीर है—श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना और नासिकाकी सूक्ष्म शक्तियोंसहित मन। जैसे हवा फूलोंसे उनकी गन्ध लेकर जाती है, उसी प्रकार जब जीवात्मा शरीरको ग्रहण करता या छोड़ता है, उस समय वह श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको साथ ले जाता है। यहाँ जीवात्माका स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

आत्मा तो नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल एवं सनातन है—

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥'

(गीता २। २४)

अतः वह शरीर कहीं आता-जाता नहीं है। उपर्युक्त सूक्ष्म इन्द्रियोंमें चेतन आत्माका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे ही 'जीवात्मा' नाम दिया गया है। जैसे सिनेमामें विद्युत्की शक्ति और ज्योति पाकर जड चित्र चलते-फिरते प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार चेतन आत्माका प्रकाश पाकर ये सूक्ष्म इन्द्रियाँ भाँति-भाँतिकी चेष्टाएँ करती हैं। इन्हींका आगमन होता है। इस तत्त्वको न जाननेके कारण अज्ञानी पुरुष अपनेको जन्म और मृत्युके अधीन मानता है। ज्ञानी इस रहस्यको जानता है, इसलिये वह अपने-आपको नित्य-मुक्त अजन्मा एवं अमृत समझता है।

जब ज्ञानी पुरुषकी भी ऐसी स्थिति है तो साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णको अजन्मा, अव्यक्त और अव्यय माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है? जैसे आग एक

ही समय व्यक्त और अव्यक्त—दोनों रूपोंमें उपलब्ध होती है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण एक ही साथ व्यक्त-अव्यक्त, साकार-निराकार तथा जन्मवान् और अजन्मा हैं। ज्ञानी पुरुषका शरीर तो प्रारब्ध-निर्मित एवं पाञ्चभौतिक होता है, किंतु परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य विग्रह स्वेच्छाविर्भूषित एवं चिन्मय है; अतः उसकी मृत्यु नहीं होती। जिस प्रकार आगके बुझनेका अर्थ उसका साकारसे निराकार होना है, व्यक्तसे अव्यक्त दशाको प्राप्त हो जाना ही है, न कि नष्ट होना; यदि बुझते समय अग्नि-तत्त्वका सर्वथा नाश हो जाय तो उसका फिर कहीं भी प्रकट होना या जलना असम्भव हो जाय; उसी प्रकार श्रीकृष्णके चिन्मय विग्रहका आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होता है, नाश नहीं; अन्यथा आज उनके प्रेमी भक्तोंको उनकी मनोहर छविका दर्शन कैसे होता ? इस धराधामसे जाते या तिरोहित होते समय वे अपने दिव्य शरीरके साथ ही परमधामको प्राप्त हुए थे; उस शरीरका योग-धारणा-जनित अग्निसे भी दाह नहीं हुआ था—

'योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धा माविशत् स्वकम्॥'

(भागवत ११। ३१। ६)

दग्ध हो भी कैसे ? उसमें दाह्य वस्तु थी ही क्या ? ज्ञान, प्रेम और आनन्दका पुञ्ज ही तो श्रीकृष्णका मधुर विग्रह है। अतः श्रीकृष्णके जन्म, स्वरूप और तिरोभाव—सभी दिव्य हैं। भक्तोंपर अनुग्रह करके अपनी दिव्य लीलाओंके द्वारा उन्हें आनन्द-प्रदान करने और दर्शन, स्पर्श तथा भाषण आदिके द्वारा उन्हें सुख पहुँचानेके लिये ही वे स्वेच्छासे प्रकट होते हैं।

जन्मकी ही भाँति भगवान्के कर्म भी दिव्य हैं। भगवान् जो कुछ भी करते हैं, उसमें उनका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ नहीं होता। वे जगत्के कल्याणके लिये ही ममता, आसक्ति और अहंकारसे शून्य होकर यज्ञार्थ कर्म करते हैं। उनके कर्मोंमें कामना, राग-द्वेष आदि दोष नहीं होते। उनके कर्म सर्वथा निर्मल होते हैं। संसारमें शुभ नीति, धर्म, सदाचार, सुख, शान्ति, प्रेम और न्याय आदिकी प्रतिष्ठा करना ही उनके कर्मोंका शुभ उद्देश्य होता है। भगवान्को तीनों लोकोंमें कुछ करना शेष नहीं है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो भगवान्को प्राप्त न हो और वे उसे पाना चाहते हों; फिर भी लोक-संग्रहके लिये संसारमें शुभ कर्मोंकी मर्यादा कायम रखनेके लिये वे कर्म करते हैं। यदि एक वाक्यमें हम कहना चाहें तो यही कह सकते हैं कि 'भगवान्का कर्म यथार्थ होता है, इसलिये वह बन्धनकारक नहीं होता।' यथार्थ कर्मसे भिन्न जितने कर्म हैं, वे ही बन्धनकारक होते हैं—

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'

(गीता ३। ९)

स्वार्थ छोड़कर दूसरोंको सुख पहुँचानेके उद्देश्यसे जो-जो शुभ कर्म किये जाते हैं, वे सभी 'यज्ञार्थ कर्म' कहलाते हैं। आसक्ति, अहंकार, ममता, कामना आदि दोषोंसे युक्त जो कर्म होते हैं, वे ही बन्धनमें डालनेवाले होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके कर्म इन दोषोंसे सर्वथा शून्य, निर्मल हैं, वे कर्म दिव्य हैं, दूसरोंसे वैसे कर्मका आचरण नहीं हो सकता। यदि मनुष्य भगवान्के बताये अनुसार कर्मका अनुष्ठान करे तो धीरे-धीरे उसके कर्म दिव्य-जैसे हो सकते हैं। भगवान्ने जो कर्मयोगका उपदेश किया है, उसे ठीक समझकर प्रत्येक मनुष्य उसके अनुसार आचरण कर सकता है और उस आचरणसे वह अपना लोक-परलोक—दोनों ही सुधार सकता है। जैसे विष प्राणघातक पदार्थ है, किंतु विशेष प्रकारसे उसका शोधन करके जब कोई दवा बनायी जाती है तो वही विष कितने ही घातक रोगोंसे बचानेमें समर्थ, प्राण-रक्षक बन जाता है, उसी प्रकार कर्मोंका भी शोधन कर देनेपर उनका बन्धकत्व दूर हो जाता है।

कर्म-शोधनके उस विशेष प्रकारको गीतामें 'योग' कहा गया है। 'योगः कर्मसु कौशलम्।(गीता २। ५०)—योग ही कर्म करनेमें कुशलता है।' इस योगको समत्व-बुद्धिके नामसे भी पुकारते हैं—

'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥'

(गीता २। ३९)

तात्पर्य यह कि 'योग'के अनुसार कर्म करनेसे कर्मका बन्धकत्व दूर हो जाता है। वह योग क्या वस्तु है ? गीता बतलाती है—'कार्यमें सिद्धि हो या असिद्धि—दोनों अवस्थाओंमें समानभावसे रहकर कर्म करना चाहिये। सिद्धिमें हर्ष या असिद्धिमें शोक होना ही बन्धनकी जड़ है। अतः दोनों अवस्थाओं-में समानभावसे रहना उचित है; वह समता ही योग है—'समत्वं योग उच्यते।'(गीता २। ४८) इस योग-कर्मके करनेमें

फलेच्छा और आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना आवश्यक है। फल चाहनेवाले तो कृपण होते हैं—'कृपणाः फलहेतवः।' (गीता २ । ४९) योगयुक्त कर्मका स्वरूप अच्छी तरह समझ लेनेकी आवश्यकता है। फलेच्छा और आसक्तिका त्याग करके कर्म करना एक प्रकार है, और अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार शास्त्रविहित कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान करके उनके द्वारा श्रीकृष्णकी आराधना करना कर्मयोगका दूसरा प्रकार है। जब सब कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग हो जाय तथा अपने सहित समस्त विश्वको परमात्माका ही स्वरूप समझकर उन्हींकी आज्ञासे उन्हींके लिये यन्त्रकी भाँति कर्म होने लगे, तब यह तीसरे प्रकारका कर्मयोग है। कर्म करके भगवान्को अर्पण करना या उन्हींके उद्देश्यसे कोई शुभ कर्म करना अथवा आराधन-पूजन आदिके कर्म करना भी इसी श्रेणीमें है। सब कर्म प्रकृतिसे ही होते हैं, गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान छोड़ देना भी कर्म करनेकी एक प्रणाली है। इसमें ज्ञाननिष्ठाका ही प्राधान्य है।

कर्म कौन-कौनसे करने चाहिये और कौन-कौनसे नहीं, इसका निर्णय शास्त्रों तथा शास्त्रज्ञ महात्मा पुरुषोंसे कराना चाहिये—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।'

(गीता १६ । २४)

कुछ लोग कर्मको स्वरूपतः बन्धनकारक मानकर उसके त्यागपर ही जोर देते हैं। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णका निर्णय कुछ और ही है। वे केवल कर्म छोड़ देनेसे नैष्कर्म्यकी सिद्धि नहीं मानते। उनके मतमें फल और आसक्ति छोड़कर उत्साहके साथ कर्तव्य-बुद्धिसे शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तप आदि सभी कर्म करने चाहिये। फलेच्छा और आसक्तिका त्याग ही सात्त्विक त्याग है। त्यागमें क्रियाकी नहीं, मनके भावकी प्रधानता है।

मनुष्य ज्ञानी हो या कर्मयोगी, उसे कर्म, अकर्म और विकर्मका स्वरूप समझ लेना चाहिये। मन, इन्द्रिय और शरीरसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टाका नाम 'कर्म' है। इनमेंसे जिन-जिन कर्मोंके करनेकी शास्त्रोंमें आज्ञा है, वे 'कर्तव्य-कर्म' कहलाते हैं; शास्त्रोंमें जिनके लिये निषेध है, उन पापकर्मोंका नाम 'विकर्म' है और कर्मोंके त्यागको ही 'अकर्म' कहा गया है। यह इनकी स्थूल परिभाषा है। इतनेसेही इनका यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आता। इसीलिये कर्मोंके स्वरूपको बड़ा गहन बताया गया है। 'गहना कर्मणो गतिः।' (गीता ४ । १७) शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म यद्यपि करने ही योग्य हैं, तथापि आचरणमें भावका भेद होनेसे तथा अधिकार-भेदसे उनके स्वरूपमें भेद हो जाता है। विकर्म—शास्त्र-विरुद्ध कर्म नरककी प्राप्ति करानेवाला है। अतः वह सर्वथा त्याज्य है, इसमें किसी-का मतभेद नहीं है। कर्मोंको त्यागकर जो अकर्मत्व स्वीकार करते हैं, उसका उद्देश्य यही है कि हम कर्मोंके बन्धनमें न पड़ें। किंतु इतनेसेही अकर्मता या नैष्कर्म्यकी सिद्धि नहीं होती। कुछ प्राकृतिक कर्म ऐसे हैं, जिनका त्याग हो ही नहीं सकता। जिन कर्मोंका त्याग हो सकता है, उन्हें त्यागकर भी यदि हम उस त्यागका फल चाहने लगें अथवा ममता, आसक्ति और अहंकारपूर्वक हमने उन कर्मोंका त्याग किया तो उससे कोई लाभ नहीं हुआ। भाव-दोषके कारण वह त्याग भी बन्धनकारक हो जाता है। जिसके डरसे 'अकर्म'-को अपनाया, वह डर अब भी ज्यों-का-त्यों बना है। ऐसी दशामें यह 'अकर्म' भी 'कर्म' बन गया। यही अकर्ममें कर्म देखनेका रहस्य है, जिसकी ओर भगवान्ने गीतामें संकेत किया है। इसी प्रकार उपर्युक्त दोषोंका त्याग करके यदि कर्तव्यबुद्धिसे शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान होता रहे तो वे कर्म भी बन्धनकारक न होनेके कारण 'अकर्म' ही कहलाते हैं। यही 'कर्ममें अकर्म देखना' कहलाता है। इसी प्रकार शुद्ध भावसे आसक्तिशून्य होकर किये जानेवाले देश, जाति और समाजके उद्धार-सम्बन्धी कर्म परम मङ्गलमय होते हैं।

इस प्रकार भगवान्के उपदेशानुसार किये हुए मनुष्योंके कर्म भी जब दिव्य-सदृश हो जाते हैं तो साक्षात् भगवान्के विषयमें क्या कहना है। उनके तो सभी कर्म स्वभावसे ही शुद्ध, निर्मल, बन्धनकारक दोषोंसे रहित एवं यथार्थ होते हैं। उनके कर्मका उद्देश्य केवल लोक-कल्याण और लोक-संग्रह है। इसके सिवा शैशवावस्थामें ही उन्होंने बड़े-बड़े दानवोंका संहार किया, इन्द्रका मान-भङ्ग करके गोवर्धन-पर्वतको हाथपर उठाया, थोड़े ही दिनोंमें सारी विद्याएँ पढ़ लीं, एक ही रातमें द्वारका-जैसा नगर बसाया, मरे हुए बालकोंको भी परलोकसे ला दिया तथा मरे हुए राजा परीक्षित्को भी जीवित कर दिया। ये अलौकिक कर्म भी मानवीय दृष्टिसे दिव्य कहे जा सकते हैं। भगवद्दृष्टिसे तो भगवान्के लिये कुछ भी असम्भव नहीं हैं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कर्तव्यपरायणता

उन दिनों उज्जैनमें महाराजा सज्जनसिंहजीका राज्य था। महाराजा बड़े ही न्यायप्रिय एवं प्रजारञ्जक थे। चारों ओर उनकी ख्याति थी।

रियासतके एक विशेष कार्यालयमें श्रीश्रीनिवास नामके एक वरिष्ठ अधिकारी थे। वे ईमानदारी और सज्जनताके लिये प्रख्यात थे। स्वभाव उनका बहुत सरल था। आजके जीवनमें सरलता गुण नहीं; दोष समझा जाता है। कार्यालयके अफसर बड़े ही चतुर और चालाक थे। श्रीश्रीनिवासजीकी सरलताका उन्होंने दुरुपयोग करना चाहा। उन्होंने खर्चके झूठे कागजात तैयार किये और धोखेसे श्रीश्रीनिवासजीसे उनपर हस्ताक्षर करवा लिये। श्रीश्रीनिवासजी अपने अधीनस्थ कर्मचारियोंपर विश्वास करते थे। अतएव उन्होंने खर्चके सम्बन्धमें पूछताछ नहीं की। सरकारी कोषसे एक बड़ी रकम कर्मचारियोंके हाथ आ गयी। किंतु अपराध छिपा नहीं रहता। दूसरे विभागके कुछ लोगोंको इसकी गन्ध लग गयी। उन्होंने महाराजा साहबसे उनकी शिकायत कर दी।

महाराजा साहब श्रीश्रीनिवासजीकी ईमानदारीसे परिचित थे। फिर भी शासनकी व्यवस्था बनाये रखनेके लिये उन्होंने उस मामलेकी जाँचका आदेश दिया।

श्रीश्रीनिवासजीके हस्ताक्षरसे ही रकम पास हुई थी, अतएव वे ही मुख्य अपराधी ठहराये गये।

उज्जैनमें न्यायाधीशके पदपर थे श्रीशिवशक्ति। ये श्रीश्रीनिवासजीके पुत्र थे। पिताकी भाँति श्रीशिवशक्ति भी अपनी ईमानदारी एवं कर्तव्यपरायणताके लिये प्रसिद्ध थे। न्यायाधीश श्रीशिवशक्तिके समक्ष मुकदमा पेश हुआ। दोनों ओरसे सबूत पेश किये गये। श्रीश्रीनिवासजीने भी मुलजिमके रूपमें उपस्थित होकर बड़ी ही धीरताके साथ अपने बयान दिये।

फैसलेका दिन आया। राज्यके कर्मचारी एवं नागरिकोंमें बड़ा कौतूहल था कि देखें न्यायाधीश श्रीशिवशक्ति अपने पिताके मामलेमें क्या निर्णय देते हैं। योग्य पिताके योग्य पुत्रने अपने पदकी गरिमा एवं न्यायाधीशके कर्तव्यको ध्यानमें रखते हुए निर्णय दिया—'मुलजिमके हस्ताक्षरके अनुसार, जिन्हें वह स्वयं भी स्वीकार करता है, उसे अपराधी घोषित किया जाता है और उस अपराधके लिये उसको छः महीनेकी कड़ी सजा तथा पाँच सौ रुपये जुर्माना किया जाता है।'

फैसला सुनाते ही न्यायाधीश श्रीशिवशक्ति अपनी कुर्सीसे उठे और पिताके समीप आकर उनके चरणोंपर गिरकर क्षमा-याचना करते हुए सुबक-सुबककर रोने लगे। पिताका हृदय भी भर आया। उनके नेत्रोंसे भी आँसू टपकने लगे। उपस्थित अनेकों व्यक्तियोंकी आँखें गीली हो गयीं। विरोधी पक्षके लोग भी अवाक् और स्तब्ध रह गये। इजलास बंद हो गया। न्यायाधीश महोदय अपने घर आ गये और उन्होंने अपने पदसे त्यागपत्र लिखकर फैसलेके साथ उसे महाराजा साहबके पास भेज दिया।

महाराजा साहब फैसलेको पढ़कर मुग्ध हो गये। उन्होंने न्यायाधीश शिवशक्तिको उनकी कर्तव्यपरायणताके लिये बधाई दी और उन्हें अपने पदपर बने रहनेका आदेश दिया। अपने विशेषाधिकारसे महाराजा साहबने निर्दोष श्रीश्रीनिवासजीको सजासे मुक्त कर दिया।

(२)

न्याय

अत्यन्त प्राचीनकालकी बात है। पञ्चाल-प्रदेशकी अत्यन्त बुद्धिमती एवं अनुपम लावण्यवती केशिनी नामक कन्याने सर्वश्रेष्ठ पतिसे विवाह करनेका निश्चय किया। उसके सौन्दर्यसे आकृष्ट अनेक धनपतियों एवं राजकुमारोंने उसके सम्मुख वैवाहिक प्रस्ताव उपस्थित किया। इतना ही नहीं; सर्वशक्ति-सम्पन्न दैत्यराज प्रह्लाद-पुत्र विरोचनने भी उसके सम्मुख उपस्थित होकर अपनी विवाहेच्छा व्यक्त कर दी। किंतु सुन्दरी केशिनीकी दृष्टिमें अपार सम्पत्ति, उच्चाधिकार एवं विशाल वैभवकी अपेक्षा श्रेष्ठकुलोत्पन्न सत्पुरुष ही महनीय एवं वरणीय था। केशिनीने विनम्र उत्तर दिया—'राजकुमार! श्रेष्ठकुलोत्पन्न होनेके कारण मैंने महर्षि अङ्गिराके पुत्र सुधन्वाको वरण करनेका निश्चय किया है। आप कृपया बतानेका कष्ट करें, कुलकी दृष्टिसे ब्राह्मण और दैत्यमें कौन श्रेष्ठ है? यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, तब तो मैं सुधन्वाकी ही सहधर्मिणी बनूँगी।'

जब प्रह्लाद-पुत्रने दैत्य-वंशको श्रेष्ठ सिद्ध करनेका प्रयत्न किया, तब केशिनीने कहा—'ठीक है, कल मैं स्वयंवर-सभामें आऊँगी। वहाँ सुधन्वा भी पधारेंगे। आपलोग वहीं सुस्पष्ट निर्णय कर लीजियेगा कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं या दैत्य।'

दूसरे दिन स्वयंवरके पूर्व ही विरोचन केशिनीके आवासपर पहुँच गये। कुछ ही देर बाद सुधन्वाको भी वहाँ आते देखकर विरोचनने उन्हें अपने समीप ही सिंहासनपर बैठनेका अनुरोध किया; किंतु सुधन्वाने कहा—'समान गुणशील व्यक्ति ही एक आसनपर बैठ सकते हैं, अतएव मैं तुम्हारे इस सुवर्ण-सिंहासनका स्पर्शमात्र कर लेता हूँ; तुम्हारे साथ बैठ नहीं सकता।'

विषदग्ध शर-तुल्य वचनसे व्याकुल होकर विरोचनने उत्तर दिया—'बात सच है, पीढ़ा या कुशकी चटाईपर बैठनेवाला नगण्य ब्राह्मण सुवर्ण-सिंहासनपर बैठनेका साहस ही कैसे कर सकता है?'

महर्षि-पुत्र सुधन्वाने तुरंत कहा—'विरोचन! पिता-पुत्र, दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध, दो वैश्य एवं दो समान गुणधर्मी ही एक साथ एक आसनपर बैठ सकते हैं, किंतु अन्य दो व्यक्ति एक साथ नहीं बैठ सकते।' सुधन्वाने कुछ कठोर, किंतु सत्य बात कह दी—'तुम सुखसे पले अबोध बालक-तुल्य हो; तुम्हें पता नहीं कि तुम्हारे पिता दैत्यपति प्रह्लाद मेरी उपस्थितिमें स्वयं सिंहासनसे नीचे मेरे चरणोंमें हाथ जोड़े बैठते हैं।'

विरोचनने कहा—'मैं दैत्योंकी समस्त सम्पत्तिकी बाजी लगानेके लिये प्रस्तुत हूँ, हमारी और तुम्हारी श्रेष्ठताका निर्णय कोई निष्पक्ष बहुज्ञ व्यक्ति करे।'

सुधन्वा बोला—'अपार सम्पत्ति तुम्हारे पास सुरक्षित रहे। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगायेंगे। यदि दैत्य ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ सिद्ध हो सके तो मेरा प्राण तुम्हारे अधीन होगा; अन्यथा तुम्हारे प्राणका स्वामी मैं हो जाऊँगा।'

विरोचनने तुरंत कहा—'तुम्हारी शर्त मुझे स्वीकार है; किंतु मैं देवता और मनुष्यको निर्णायक स्वीकार नहीं करूँगा।'

सुधन्वाने उत्तर दिया—'प्राणोंकी बाजी लग जानेपर निर्णयार्थ मैं तुम्हारे पिता प्रह्लादके पास चलूँगा। मेरा विश्वास है, वे सत्यनिष्ठ दैत्यपति पुत्र-मोहसे मिथ्या-भाषण नहीं कर सकेंगे।'

विरोचन और सुधन्वा दोनों क्रोधावेशमें प्रह्लादके समीप पहुँचे। दैत्यपति प्रह्लादने सुधन्वाको देखते ही उनके स्वागतार्थ पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क एवं अत्यन्त सुन्दर सवत्सा गौ लानेके लिये सेवकोंको आज्ञा दी। किंतु सुधन्वाने प्रह्लादसे कहा—"इस समय मुझे जल, मधुपर्क एवं सवत्सा गौकी अपेक्षा नहीं। तुम मेरे प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दो—'मुझ ब्राह्मण और विरोचनमें कौन श्रेष्ठ है?' हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाकर तुम्हारा निर्णय लेने आये हैं।"

एक ओर एकमात्र पुत्र विरोचन और दूसरी ओर ब्राह्मण सुधन्वा। अत्यन्त जटिल परिस्थिति थी प्रह्लादकी। किंतु धर्मप्राण प्रह्लादने सुधन्वासे पूछा—'झूठ बोलनेवाले दुष्ट व्यक्तिकी क्या दशा होती है?'

सुधन्वाने मिथ्या-भाषणके पापोंका वर्णन करते हुए कहा—'दैत्यराज! स्वार्थवश पशुके लिये झूठ बोलनेसे मनुष्य अपनी पाँच पीढ़ियोंको, गौके लिये झूठ बोलनेपर दस, घोड़ेके लिये असत्य भाषण करनेपर सौ और मनुष्यके लिये झूठ बोलनेपर एक सहस्र पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है। सुवर्णके लिये झूठ बोलनेवाला अपनी भूत और भविष्य—सभी पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है। पृथ्वी तथा स्त्रीके लिये झूठ कहनेवाला तो अपना सर्वनाश ही कर लेता है। इसलिये धर्मात्मा पुरुष भूमि या स्त्रीके लिये कभी झूठ नहीं बोलते।'

सुधन्वाके वचन सुन धर्ममूर्ति प्रह्लादने निर्णय दिया—

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात् त्वं तेन वै जितः॥

(महा०, उद्योग०, प्रजागरपर्व ३५। ३५)

'विरोचन! सुधन्वाके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है, इसकी माता तेरी मातासे श्रेष्ठ है, अतः तू आज सुधन्वाके द्वारा जीता गया।'

तदनन्तर प्रह्लादने अत्यन्त दीनभावसे सुधन्वासे प्रार्थना की—'सुधन्वन्! अब तुम विरोचनके प्राणोंके स्वामी हो; किंतु यदि तुम चाहो तो इसे मुझे दे दो। मैं इसे हृदयसे चाहता हूँ।'

महर्षि-पुत्र सुधन्वाने संतुष्ट होकर उत्तर दिया—'दैत्यराज! तुमने धर्मका पालन किया है, स्वार्थवश झूठा निर्णय नहीं दिया। इस कारण मैं तुम्हारा दुर्लभ पुत्र तुम्हें दे रहा हूँ।'

—शिवनाथ दुबे

(३)

'आज मैंने जाना, भारतमें बुद्ध भगवान्‌का जन्म क्यों हुआ !'

द्वितीय विश्व-महायुद्ध चल रहा था। भारतीय सैनिकोंकी एक टुकड़ी जापानी सैनिकोंका मुकाबला कर रही थी। एक भारतीय सैनिककी गोली सामने खड़े जापानी सैनिकके कंधेमें लगी और वह लड़खड़ाकर जमीनपर गिर पड़ा। घावसे बड़ी तेजीसे रक्त बह रहा था तथा वह जीवन और मृत्युके बीचकी घड़ियाँ गिन रहा था।

एक दूसरे भारतीय सैनिककी दृष्टि उस घायल तड़पते हुए जापानी सैनिकपर पड़ी। सैनिककी छटपटाहट देखकर उसकी सुप्त मानवता जाग उठी। उसके मनमें विचार उठा—'जीवनके अन्तिम क्षणमें इस प्रकार तड़पते हुए व्यक्तिकी कुछ सहायता करनी चाहिये; मृत्युके बिन्दुपर शत्रुता कैसी ?' वह विशुद्ध सेवा-भावनासे उस जापानी सैनिकके पास गया। उसने जमीनपर पड़े हुए उसके सिरको अपनी गोदमें उठा लिया और अपने पासके थरमसमेंसे थोड़ी चाय प्यालीमें उँड़ेलते हुए कहा—'दोस्त ! भगवान् बुद्धके देशके सैनिक कितने बहादुर होते हैं, यह तुमने मोर्चेपर देख ही लिया है। अब उसी देशके एक सैनिकके हाथोंसे प्यारभरी चाय भी पी लो।'

इतना कहकर भारतीय सैनिक जापानी सैनिकको चाय पिलानेका उपक्रम कर ही रहा था कि जापानी सैनिकके मनमें प्रतिहिंसाका भाव जाग्रत् हो गया। उसने देखा—शत्रुका सैनिक उसकी परिचर्यामें व्यस्त है। सेवाके प्रतिदानस्वरूप उसका कृतज्ञ होना तो दूर रहा, उल्टे उसके मनमें प्रतिशोधकी भावना प्रबल हो गयी। उसने धीरेसे अपनी जेबसे कटार निकाली और भारतीय सैनिककी आँख बचाकर उसके पेटमें भोंक दी। 'जाको राखे साइयाँ मारि सकै नहिं कोइ'—जापानी सैनिकका वार चूक गया और कटार भारतीय सैनिकके किसी मर्मान्तक स्थानपर नहीं लगी। फिर भी वार गहरा था; वह अचेत होकर जमीनपर लुढ़क गया।

दोनों सैनिक रणाङ्गणमें घायल पड़े थे। थोड़ी देर पश्चात् घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाला दल वहाँ पहुँच गया। वह घायल सैनिकोंको उठाकर उन्हें चिकित्सा-शिविरपर ले गया। जापानी और भारतीय—दोनों सैनिक भी अन्य घायलोंके साथ चिकित्सा-शिविरपर पहुँचा दिये गये।

भारतीय सैनिक तीन दिनों तक बेहोश-सा रहा। उसके बाद जब उसे पूरा होश आया तो वह शिविरमें भर्ती अन्य घायलोंको भी पहचानने लगा। उसके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, जब उसने अपनी चारपाईसे तीसरी चारपाईपर उसी घायल जापानी सैनिकको देखा।

चार-पाँच दिनमें भारतीय सैनिक चलने-फिरने लायक हो गया। डाक्टरोंने भी उसे शिविरमें ही कुछ टहलनेकी अनुमति दे दी। बिस्तरसे उठकर वह चायका थरमस लिये उस जापानी सैनिकके पास पहुँचा। थरमसमेंसे प्यालीमें चाय डालकर जापानी सैनिककी ओर उसे बढ़ाते हुए कहा—'दोस्त ! मुझे पहचानते हो ? लड़ाईके मैदानमें तुम्हारा और मेरा परिचय हुआ था। उस समय मैं तुम्हें चाय पिलाना चाहता था, पर पिला न सका; अब लो यह चायकी प्याली'—यों कहते हुए उसने चायकी प्याली जापानी सैनिकके मुँहसे लगा दी। वह भी उसके प्यारसे अभिभूत होकर चाय पीने लगा। पर उसको अपनी करनीपर परिताप हो रहा था। उसका हृदय भर आया; अन्तर्व्यथाके चिह्न उसके मुखपर झलक आये।

उसकी ऐसी विचित्र दशा देखकर भारतीय सैनिकने प्रश्न किया—'दोस्त ! क्या बात है ? तुम इतने उदास क्यों हो गये ?'

जापानी सैनिकका गला अवरुद्ध हो गया; अस्पष्ट शब्दोंमें वह केवल इतना ही कह पाया—'आज मैंने जाना कि भारतमें भगवान् बुद्धका जन्म क्यों हुआ !'

(४)

निष्ठा

बादशाह अकबर विद्वानोंका बहुत आदर और सम्मान करते थे, इस कारण उनके दरबारमें अनेक अच्छे-अच्छे विद्वान् और कवि थे। उन्हीं विद्वानोंमें व्रजके एक श्रीपति नामके कवि भी थे। वे बड़े ही निष्ठावान् व्यक्ति थे। उनका व्रत था कि भगवान् श्रीरामका ही गुणगान करना है। मरणधर्मा मनुष्यकी प्रशस्तिमें अपनी काव्यकलाका उपयोग करना वे अपराध समझते थे। दरबारमें जब भी विद्वानोंकी गोष्ठी होती, अन्य कवि बादशाह अकबरकी प्रशंसामें भी

कविता सुनाते, किंतु कवि श्रीपति सदा भगवान्का ही गुणगान करते; बादशाहकी प्रशंसामें एक शब्द भी नहीं कहते; तथापि उनकी कविता उत्कृष्ट एवं प्रेरणाप्रद होती थी। बादशाह गुणग्राही तो थे ही। वे श्रीपतिकी कविता बड़े उल्लासके साथ सुनते और अन्य कवियोंके साथ उनका सम्मान करते तथा उन्हें पुरस्कार देते।

'देखि न सकहिं पराइ बिभूती'—ऐसे निम्नस्तरके व्यक्तियोंका भी समाजमें अभाव नहीं रहता। अकबरके दरबारमें भी कुछ लोग ऐसे थे। श्रीपतिजीको प्राप्त सम्मान एवं पुरस्कारको देखकर वे बड़े दुःखी होते थे। अन्तमें उन व्यक्तियोंने मिलकर श्रीपतिजीको दरबारसे हटानेका एक षड्यन्त्र रचा। उन्होंने निश्चय किया कि एक दिन दरबारमें बादशाह अकबरके सम्बन्धमें एक समस्यापूर्तिका प्रस्ताव रखा जाय और देखा जाय कि कवि श्रीपति किस प्रकार बादशाहकी प्रशंसा करनेसे बचते हैं। अपने योजनानुसार एक दिन उन्होंने दरबारमें समस्या रखी—'करो सब आस अकब्बर की' और दरबारमें सब कवियोंसे इसकी पूर्ति करनेके लिये कहा गया। बारी-बारीसे एक-एक कवि उठने लगे और 'करो सब आस अकब्बर की' इस समस्याकी पूर्ति करते हुए बादशाह अकबरकी खूब प्रशंसा करने लगे। दरबारमें वाह-वाहकी ध्वनि गूँज उठी। अन्तमें कवि श्रीपतिकी बारी आयी। वे खड़े हुए। चारों ओर सन्नाटा छा गया। विरोधी वर्ग उत्सुकतासे देख रहा था कि किस प्रकार आज वे अपनी निष्ठाका, जिसका वे बराबर बखान करते आये हैं, निर्वाह करते हैं। पर कवि श्रीपति अपनी निष्ठापर अचल थे; क्यों न हों, उन्होंने 'अचल' के साथ अपनी निष्ठा जो स्थापित की थी। उन्होंने निर्भय और निश्चिन्त भावसे अपनी कविताका पाठ किया—

एकहि छाँड़ि कै दूजौ भजै,
सो जरै रसना उस लब्बर की।
अब की दुनिया गुनिया जो बनी,
वह बाँधति फेंट अडंबर की॥
कवि 'श्रीपति' आसरो रामहि को
हम फेंट गही बड़ जब्बर की।
जिन को हरि में है प्रतीति नहीं,
सो करो सब आस अकब्बर की॥

निर्भीक कविके मुखसे इस प्रकारकी समस्या-पूर्ति सुनकर दरबारमें चारों ओर निस्तब्धता छा गयी। विरोधी प्रतीक्षामें थे—बादशाह अकबर उनके लिये किस दण्डका हुक्म करते हैं; किंतु अकबर भी गुणग्राही थे। किसीकी निष्ठाका आदर करना वे जानते थे। कवि श्रीपतिकी निष्ठासे उन्हें प्रसन्नता हुई। उन्होंने कविके लिये दण्डके स्थानपर प्रचुर पुरस्कारकी घोषणा की। दरबार हर्ष-ध्वनिसे भर गया।

(५)

हिंदुस्तानी कम्युनिज्म

१६ जुलाई, १९६५ की बात है—गीताप्रेसके सभी विभागोंके प्रधान कर्मचारी परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके पास अपनी माँगें लेकर गये। श्रीभाईजीने सबको नमस्कार किया तथा बड़े आदरसे बैठाया। सबने कहा—'भाईजी! हम आपके दर्शन करने आये हैं; अपनी माँग बताने नहीं आये हैं। जो जीवनके आरम्भसे गरीबोंके आँसू पोंछते आया है, जिसके यहाँसे प्रतिदिन प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षमें अनेकों गरीबोंकी सहायता होती रहती है, उस व्यक्तिसे हम अपनी माँग क्या कहें? गरीबोंके दुःख-दर्दको जितना आप जानते हैं, हम उससे अधिक और क्या कहेंगे? बस, हम आपके दर्शन करके कृतार्थ हो गये। आप अपनी ओरसे जो करेंगे, वह हमारी माँगसे अधिक ही होगा और उससे हमें पूर्ण संतोष होगा।'

श्रीभाईजीने कहा—'आप अपनी-अपनी कठिनाइयाँ कहें; संकोच न करें। देखें, गीताप्रेस किसी व्यक्तिकी चीज नहीं है; वह तो भगवान्की चीज है, भगवान्का काम है। भगवान्की मङ्गलमयी इच्छा एवं शक्तिसे गीताप्रेसकी स्थापना हुई, उसका विकास हुआ और आज वह इतने व्यक्तियोंकी सद्भावनाकी वस्तु बना हुआ है। भगवान्की वस्तु सबकी होती है। गीताप्रेस मकान और मशीनोंका नाम नहीं है; आपलोग प्रेसके हैं, प्रेस आपका है। प्रेस जितना हमारा है, उतना ही आपका भी—एक-एक कर्मचारीका है। वास्तवमें तो यह भगवान्का है। रही कष्टकी बात, आपलोगोंका कष्ट हमारा ही कष्ट है।'

कर्मचारी श्रीभाईजीकी बात सुनकर आप्यायित हो गये। उनका हृदय भर आया। सबने कहा—'भाईजी! अब हम कुछ बोल नहीं पा रहे हैं। आप जो करेंगे, वही हमारे लिये हितप्रद होगा।' इतना कहकर सबने श्रीभाईजीसे विदा ली।

कर्मचारियोंके जानेके बाद प्रेसके अधिकारी लोग श्रीभाईजीसे मिलनेके लिये आये। श्रीभाईजीने अधिकारियोंसे

कर्मचारियोंके आने तथा उनसे हुई बातकी चर्चा की और कहा—"आप देखते हैं: कर्मचारियोंका कष्ट वास्तवमें सच्चा है—समय कितना कठिन है। बेचारे भूखे हैं। दूसरे प्रेसोंसे अपने प्रेसका वेतन-स्केल अच्छा है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अपना स्केल 'अच्छा' है। हमलोग अपनी ओरसे अपने कर्मचारियोंका पे-स्केल (वेतन-मान) और भी अच्छा बनायें—एक 'आदर्श' स्थापित करें। यह प्रस्ताव मैं कई बार लिखित रूपमें ट्रस्ट-बोर्डके समक्ष रख चुका हूँ और अब भी उसके लिये कहता हूँ। मैं कोई बात किसीपर लादना नहीं चाहता। सबकी रायसे ही—ट्रस्टकी आर्थिक स्थितिके अनुरूप ही काम होना चाहिये।"

इसके पश्चात् श्रीभाईजी कुछ भावावेशमें आ गये और बोले—"मैं तो मनसे 'हिंदुस्तानी कम्युनिस्ट' हूँ। राग-द्वेषसे पैसेवालोंको खतम करना नहीं चाहता, प्रेमपूर्वक गरीबोंका पेट भरना चाहता हूँ।"

अधिकारी लोग अवाक्-से हुए श्रीभाईजीकी बातें सुनते रहे। अधिकारियोंके जानेके पश्चात् श्रीभाईजीकी सेवामें रहनेवालोंमेंसे एक पढ़े-लिखे व्यक्तिने कहा—"बाबूजी! आज तो मैंने आपके मुखसे एक नया शब्द सुना—'हिंदुस्तानी कम्युनिस्ट'। 'कम्युनिस्ट' शब्दसे जो अर्थ समझा जाता है, क्या 'हिंदुस्तानी कम्युनिस्ट' उससे भिन्न अर्थका द्योतक है?"

श्रीभाईजी सेवककी बात सुनकर बोले—"भैया! 'कम्युनिज्म' शब्दका अर्थ व्यापक है। संक्षेपमें, इस विचार-धारामें समाजके सभी व्यक्तियोंके लिये भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, शिक्षा आदिकी समान व्यवस्थापर मुख्य रूपसे बल दिया जाता है। इस प्रकार यह विचारधारा स्पृहणीय है; किंतु पाश्चात्त्य देशोंका कम्युनिज्म धनीवर्गके प्रति असंतोष, घृणा, प्रतिहिंसा आदिकी भावनासे पनपा है, जहाँ हमारे देशमें यह सम्पन्न व्यक्तिके स्वेच्छाप्रेरित उत्सर्ग, त्याग एवं बलिदानपर आधारित था। श्रीमद्भागवत (७।१४।८) में कहा गया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

"जितने धनसे प्राणीकी उदरपूर्ति हो, उतनेपर ही उसका अधिकार है। जो उससे अधिकपर अपना स्वत्व मानता है, वह 'चोर' है; उसे दण्ड मिलना चाहिये।" ये शब्द पाश्चात्त्य देशके कम्युनिज्मका प्रचलन करनेवाले 'लेनिन' या 'मार्क्स' के नहीं हैं, ये हमारे देशके महान् ऋषि देवर्षि नारदके वचन हैं। हमारे इस आदर्शकी छायाको भी आजका कम्युनिज्म छू नहीं सकता। इतना ही नहीं, भगवान्ने भी गीता (३।१३) में कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

"यज्ञसे शेष (सबको सबका हिस्सा देकर) बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं, पर जो केवल अपने (भोगके) लिये पकाते (कमाते) हैं, वे 'पाप' ही खाते हैं।"

"अपने यहाँ सारे जगत्को उसका हिस्सा देकर शेष अन्न खानेवालेको 'अमृताशी' कहा गया है। श्रीमद्भागवत एवं श्रीमद्भगवद्गीताके इस त्यागपूर्ण आदर्शको आजकी विचारधाराके शब्दोंमें मैं 'हिंदुस्तानी कम्युनिज्म' कहता हूँ, और जो इस विचारधारापर विश्वास रखता हो, वह 'हिंदुस्तानी कम्युनिस्ट' है। मैं मनसे ऐसा मानता हूँ कि जिस देशमें लाखों लोग भूखों मरें, वहाँ बड़े-बड़े भोज हों, कुछ लोग अधिक खाकर बीमार पड़ें, यह पाप है। सबको खानेको, पहननेको और रहनेको मिलना चाहिये। 'उसके भाग्यमें बदा नहीं है, इसीलिये वह अभावसे ग्रस्त है'—यह उसके (अभावग्रस्तके) माननेकी बात है, समाजके माननेकी नहीं, सम्पन्न लोगोंके माननेकी नहीं। जो सम्पन्न हैं, वे अभावग्रस्तोंको दें; अपने लिये कंजूस बनकर दूसरोंके लिये उदार बनें। धन किसीके पास रहेगा नहीं। सम्पत्तिका या तो सदुपयोग होगा या वह चली जायगी। वास्तवमें सम्पत्तिवान्की सम्पत्ति गरीबोंसे ली हुई उधार है—ऐसा मानकर उस ऋणको ब्याजसहित चुकाना प्रत्येक ईमानदार सम्पत्तिवान्का कर्तव्य है।

"—बस, यही मेरी दृष्टिमें 'हिंदुस्तानी कम्युनिज्म' है। यदि हम भारतवर्षवासी इस प्राचीन पावन परम्पराका कुछ भी अंश जीवनमें उतार लें तो देशमें कोई भी भूखा और नंगा न रहे। पर ...."

—यों कहते-कहते श्रीभाईजीका हृदय देशके असंख्य भूखे-नंगे भाई-बहनोंकी दयनीय दशाका विचारकर द्रवित हो गया। सेवक तथा पासमें बैठे हुए अन्य व्यक्तियोंकी भी आँखें उनकी स्थिति देखकर गीली हो गयीं।

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दो ऐसे लोक-कल्याणकारी एवं जीवनके सारे प्रश्नोंका समाधान करनेवाले ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसीलिये परीक्षा-समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा लोक-मानसको ऊँचा उठानेके लिये इन परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय गीता एवं रामायणकी परीक्षाके पाँच सौ केन्द्र हैं और लगभग बीस हजार परीक्षार्थी प्रतिवर्ष परीक्षामें सम्मिलित होते हैं। विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर इनकी नियमावली मँगवानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पो० स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) (पौड़ी-गढ़वाल), उ० प्र०

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दोनों आशीर्वादात्मक प्रासादिक ग्रन्थ हैं। इनके प्रेमपूर्ण स्वाध्यायसे लोक और परलोक—दोनोंमें कल्याण होता है। इन दोनों मङ्गलमय ग्रन्थोंके पारायणका तथा इनमें वर्णित आदर्श सिद्धान्त और विचारोंका अधिक-से-अधिक प्रसार हो, इसके लिये श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघकी स्थापना की गयी है। अबतक गीता एवं रामायणका पाठ करनेवालोंकी संख्या लगभग ५५ हजार हो चुकी है। इन सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता है; उनको केवल नियमित रूपसे गीता और रामचरितमानसका पठन, अध्ययन और मनन करना पड़ता है। इस संस्थाके द्वारा गीताके छः प्रकारके और रामायणके तीन प्रकारके सदस्य बनाकर इन ग्रन्थोंका अध्ययन करनेकी प्रेरणा दी जाती है। इसके अतिरिक्त एक उपासना-विभाग भी है, जिसमें अपने इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी या मानसिक पूजा करनेवाले सदस्य बनाये जाते हैं। इस विभागमें भी पर्याप्त सदस्य हैं। विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगवानी चाहिये।

मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पो० स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) (पौड़ी-गढ़वाल), उ० प्र०

'कल्याण' के प्रेमी पाठकों तथा ग्राहकोंसे नम्र निवेदन एवं सूचना

यह सूचित करते हुए हमें संकोचका अनुभव हो रहा है कि 'कल्याण' वर्ष ४३का विशेषाङ्क 'परलोक और पुनर्जन्माङ्क', जिसकी बहुत थोड़ी-सी प्रतियाँ अभी पिछले दिनों तैयार हुई थीं, अब समाप्त हो गया है। निकट भविष्यमें इसके पुनर्मुद्रणकी भी कोई सम्भावना नहीं है। अतः 'परलोक और पुनर्जन्माङ्क' के निमित्त अब किसी भी सज्जनको धनराशि भेजनेका कष्ट नहीं करना चाहिये। परिस्थितिजन्य विवशताके लिये हम सभी 'कल्याण'-प्रेमी महानुभावोंसे विनीत क्षमाप्रार्थी हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रकाशित हो गयी ! **गीता-दैनन्दिनी** प्रकाशित हो गयी !!

(सन् १९७५ ई०)

इसमें सम्पूर्ण गीता, हिंदी-अंग्रेजी-पंजाबी-नये भारतीय शक-संवत्के दिनाङ्क, मननीय विषय और रेल-डाक आदिके नियम पूर्ववत् दिये गये हैं। मूल्यकी तालिका निम्नलिखित है—

पुस्तक-संख्या	मूल्य	डाक-व्यय		कुल योग
१	१.००	१.५५	=	२.५५
२	२.००	१.७०	=	३.७०
३	३.००	१.८५	=	४.८५
६	६.००	२.४०	=	८.४०
१२	१२.००	३.४०	=	१५.४०

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीराधा-भक्तकी अभिलाषा

राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला
पादौ तत्पदकाङ्कितासु चरतां वृन्दाटवीवीथिषु।
तत्कर्मैव करः करोतु हृदयं तस्याः पदं ध्यायतात्
तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः॥

मेरी जिह्वा श्रीराधा-नामामृत-रसके आस्वादनार्थ सदा विह्वल (अधीर) बनी रहे, मेरे चरण श्रीराधापादाङ्कित वृन्दावन-वीथियोंमें ही विचरण करते रहें, दोनों हाथ उनके सेवा-कार्योंमें ही लगे रहें, हृदय सदा उनके मञ्जुल चरण-कमलोंका ही ध्यान करता रहे एवं उन्हीं श्रीराधाके रसमय भावजनित उल्लासके साथ श्रीराधा-प्राणनाथ लालजीमें मेरी परम प्रीति हो।

देवानामथ भक्तमुक्तसुहृदामत्यन्तदूरं हि यत्
प्रेमानन्दरसं महासुखकरं चोच्चारितं प्रेमतः।
प्रेम्णाऽऽकर्णयते जपत्यथ मुदा गायत्यथालिष्वयं
जल्पत्यश्रुमुखो हरिस्तदमृतं राधेति मे जीवनम्॥

जो देवताओं, भक्तों, मुक्तों और स्वयं श्रीलालजीके सुहृद्वर्गोंसे भी अत्यन्त दूर है, जो प्रेमानन्द-रसस्वरूप है, जो प्रेमपूर्वक उच्चरित होनेपर महासुखकर है, श्रीलालजी स्वयं जिसका श्रवण एवं जप करते हैं तथा सखीगणोंके मध्यमें प्रीतिपूर्वक गान करते हैं और कभी प्रेमाश्रुपूर्ण मुखसे जिसका बारंबार उच्चारण करते हैं, वही 'श्रीराधा'-नामामृत मेरा जीवन है।

अनुल्लिख्यानन्तानपि सदपराधान् मधुपति-
र्महाप्रेमाविष्टस्तव परमदेयं विमृशति।
तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरसं
महिम्नः कः सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम्॥

हे श्रीराधे! जो कोई आपके 'श्रीराधा'—इस एक ही अमृतरूप रससे भरे हुए नामका उच्चारण कर लेता है, उसके अनन्त-अनन्त संतापराधोंकी भी गणना न करके आपके प्रति महाप्रेमके आवेशके वशीभूत हुए प्रियतम मधुपति यह विचारने लगते हैं कि इसको इस नामोच्चारणके बदलेमें अधिक-से-अधिक मूल्यवान् वस्तु क्या देनी चाहिये? फिर जिन्होंने अपने मनको एकमात्र आपके दास्यमें ही जोड़ रखा है, उनकी महिमा-सीमाका स्पर्श कौन कर सकता है?

यज्जापः सकृदेव गोकुलपतेराकर्षकस्तत्क्षणा-
द्यत्र प्रेमवतां समस्तपुरुषार्थेषु स्फुरेत्तुच्छता।
यन्नामाङ्कितमन्त्रजापनपरः प्रीत्या स्वयं माधवः
श्रीकृष्णोऽपि तदद्भुतं स्फुरतु मे राधेति वर्णद्वयम्॥

जिसका मात्र एक बार उच्चारण गोकुल-पति श्रीकृष्णको तत्क्षण आकर्षित करनेवाला है, जिससे प्रेमियोंके मनमें अर्थ-धर्मादि समस्त पुरुषार्थोंमें तुच्छताका स्फुरण होने लगता है, एवं जिस नामसे अङ्कित मन्त्रके जपमें माधव श्रीकृष्ण भी सदा-सर्वदा प्रीतिपूर्वक संलग्न रहते हैं, वे ही अत्यद्भुत 'राधा' नामके दो वर्ण मेरे हृदयमें स्फुरित हों।

(श्रीराधासुधानिधि)